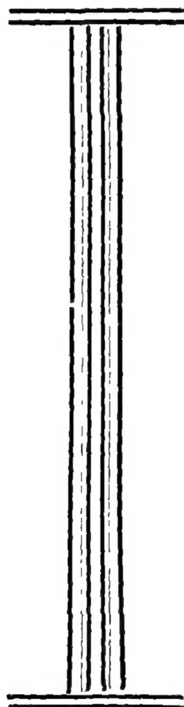
एकीभावस्तोत्र

(सटीक)



अनुवादक और सम्पादक

परमानन्द जैन शास्त्री



श्रीआचार्य वादिराजकृत

एकीभावस्तोत्र

चन्द्रकीर्ति भट्टारककृत संस्कृतटीका

और पं० भूधरदास कृत पद्यानुवाद

अनुवादक और सम्पादक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीर-सेवामन्दिर, सरसावा,

जि० सहारनपुर

प्रथमावृत्ति

११००

मूल्य ≡)

इस स्तोत्र की छपाई में धन देने वाले सज्जन

इस स्तवन की छपाई में निम्न लिखित जिन सज्जनों ने आर्थिक सहायता पहुंचाई है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है और भी जिनवाणी के प्रेमी सज्जन इस ओर लक्ष्य देंगे और यश और पुण्य के भागी बनेंगे।

५०) जैन समाज नजीबाबाद

१०) ला० बलवन्तसिंह सुमतप्रसाद जी जैन रईस खतौली

५) ला० बाबूलाल जी जैन रईस खतौली

२) ला० प्रेमचन्द जी जैन शाहपुर

१) ला० विश्वम्भरदास जिनेश्वरदास जी बजाज, भैंसी

---

६८) कुल जोड़

आद्य निवेदन

कोई चार पांच वर्ष का अर्सा हुआ जब मुझे कई मित्रों ने और कुछ साधर्मी भाइयों ने 'एकीभावस्तोत्र' के अनुवाद करने की प्रेरणा की थी, और मैंने उनकी इस प्रेरणा को पाकर उसका हिन्दी अनुवाद भी कर दिया था।

पश्चात् इस अनुवाद को मैंने मित्रवर पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर के पास संशोधनार्थ भेज दिया और उन्हों ने इसका संशोधन करके मेरे पास वापिस भेज दिया और यह विचार भी प्रकट किया कि "मेरी इच्छा इस स्तोत्र के अनुवाद कर देने की थी, परन्तु जब आपने इस कमी को मेरे से पहले ही पूर्ण कर दिया तब मुझे बहुत खुशी हुई"। अस्तु आपने संशोधन करके जो मुझे अनुगृहीत किया है इसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूं।

कुछ सज्जनों के आग्रहवश इस स्तवन की संस्कृतटीका भी साथ में लगा दी गई है। संस्कृत टीका श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की प्रति पर से ली गई है और उसका मिलान 'जैन सिद्धान्त भवन' आरा की प्रति पर से किया गया है जो कि भवन के अध्यक्ष पं० के० भुजबली जी शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। इस सब कृपा के लिये उक्त दोनों साहित्य सेवी विद्वानों का मैं हृदय से आभारी हूं।

इसके सिवाय, मित्रवर पं० ताराचन्द्र जी न्यायतीर्थ और पं० शंकरलालजी न्यायतीर्थ आदि विद्वानोंने इसके प्रकाशनादि के विषय में सत्परामर्शादि द्वारा जो सहयोग प्रदान किया है। इसके लिये मैं उक्त दोनों विद्वानों का आभारी हूँ।

इस स्तोत्र के प्रकाशन में जिन सज्जनों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन में कागज की महगी आदि के कारण करीब १००) रुपये का खर्च हुआ है। सस्कृतटीका की प्रतियों के अधिक अशुद्ध होनेसे संशोधनादि करने में बड़ी कठिनता का सामना करना पडा है। इस कारण प्रूफ के संशोधनादि करने में कुछ अशुद्धियां जरूर रह गई हैं। शुद्धिपत्र भी लगा दिया है। फिर भी सावधानी रखते हुए यदि कोई अशुद्धि रहगई हो तो विद्वज्जन उन्हें सुधार कर पढ़ें, और मुझे उनकी सूचना दे देवें ताकि अगले सस्करण में उनका सुधार हो सके।

निवेदक—
परमानन्द जैन

प्रस्तावना

आचार्य वादिराज, और उनकी रचनाएं

दिगम्बर जैन साहित्यके रचयिता ग्रन्थकारों और टीकाकारों मे आचार्य वादिराजका भी वही स्थान है जो अकलंक आदि आचार्योंका है। आचार्य वादिराज अपने समयके एक प्रसिद्ध तार्किक विद्वान थे। सिद्धान्त-शास्त्रके अच्छे मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी व्याकरण, काव्य, कोष और अलंकारादि विषयों मे आपकी अच्छी गति थी। साथ ही, आप एक साहित्यिक, कवि और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। आपकी कविता बडी ही सरस तथा हृदयग्राहिणी है और प्रासादादि गुणों से युक्त है। आपके उपलब्ध काव्य ग्रन्थोंका रसास्वादन करने और "न्याय विनिश्चय-विवरण" नामकी टीका की भली भांति अवलोकन करने से आपकी विद्वत्ता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। साथ ही, आपकी चमत्कारिणी बुद्धि और सर्वतोमुखी प्रतिभा का भी दिग्दर्शन हो जाता है। और इसीलिये आपकी षट्तर्क-षण्मुख स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि आदि अनेक उपाधियाँ थीं जैसा कि निम्न शिलावाक्यसे प्रकट है :—

"षट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापति जगदेकमल्लवादिगलु एनिसिद श्रीवादिराज देवरुम्।"

Vide N. 36 Nagar Taluq Mr. Rice

वादिराजसूरि सभा मे बोलने के लिये अकलंकदेवके सदृश हैं और कीर्ति मे न्यायबिन्दु आदि प्रसिद्ध तार्किक ग्रन्थोंके कर्त्ता बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिके समान हैं। वचनोंमे बृहस्पति (चार्वाक) के समान हैं और न्यायवादमे अक्षपाद (गौतम

के समान है। इस तरहसे वादिराज इन भिन्न भिन्न धर्म-गुरुओं के एकीभूत प्रतिनिधित्वके समान शोभित होते हैं *।

इसके सिवाय, वादिराजसूरिकी विद्वत्ता आदिके विषयमें श्रवणबेलगोलकी 'मल्लिषेणप्रशस्ति' नामक शिलालेखमें, जो शक संवत् १०५० और वि० स० ११८५ में उत्कीर्ण हुआ है, लिखे हुए प्रशसात्मक पद्योंसे स्पष्ट जाना जाता है कि वादिराज अपने समय के एक प्रसिद्ध तार्किक और वादविजेता विद्वान् थे—उनके सामने प्रवादियों का गर्व चूर हो जाता था—राजा जयसिंहकी राजधानी सिंहपुरमें उनका विशेष प्रभाव एवं महत्त्व विद्यमान था। और वे उस समयके प्रायः सभी विद्वानों में शिरोमणि गिने जाते थे। 'मल्लिषेणप्रशस्ति' के उन प्रशंसात्मक पद्योंको लेखवृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है। उनमें से सिर्फ एक पद्य यहां नमूनेके तौरपर दिया जाता है और वह इस प्रकार है :—

> आरूढाम्बरमिन्दुबिम्ब-रचितौत्सुक्यं सदा यद्यश—
> श्छत्रं वाक्चमरीजराजि-रुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
> सेव्यः सिंहसमर्च्य-पीठ-विभवः सर्व्व-प्रवादि-प्रजा
> दत्तोच्चैर्जयकार सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम्॥

अर्थात् जिनका यश-रूपी छत्र आकाशमें व्याप्त था और जिसने चन्द्रमाको उत्सुकता उत्पन्न कर दी थी—अर्थात् उनका यश चन्द्रमासे भी अधिक समुज्ज्वल था। स्तुतिवाक्यरूपी चमरसमूहकी किरणें जिनके कानोंके समीप पड़ती थीं। तथा

> *सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्ति-
> र्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
> इतिसमयगुरूणामेकतः सगताना
> प्रतिनिधि रिव देवो राजते वादिराजः॥
> (Vide, Ins. N 39, Nagar Taluq by Mr. Rice)

जयसिंह नरेशसे जिनका सिंहासन पूजित था और सर्व प्रवादि प्रजा उच्चस्वर से जिनका जय-जय कार गाया करती थी ऐसे आचार्य वादिराज विद्वानों के द्वारा सेवनीय हैं।

एकीभावस्तोत्रके अन्तमें किसी कविके द्वारा बनाया हुआ एक पद्य वादिराजकी प्रशंसामें निम्न प्रकार से पाया गया है :—

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंह.।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ॥

अर्थात् जितने वैयाकरण है, जितने नैयायिक हैं, जितने कवि हैं और जितने भव्य सहायक है वे सब वादिराज से पीछे हैं अर्थात् वादिराजके समान वैयाकरण, नयायिक और कवि नहीं हैं।

आचार्य वादिराज नन्दिसंघके आचार्य थे। उनके अन्वयका नाम अरुंगल था*। परन्तु यह नंदिसंघ वह नदिसघ नही है जिसकी गणना चार संघोंमें की गई है, अपितु यह द्रमिल अथवा द्राविड संघका एक भेद है जिसकी स्थापना आचार्य पूज्यपाद या देवनन्दीके शिष्य वज्रनन्दीने की थी और जिसकी गणना इन्द्रनंदीके कथनानुसार पांच जैनाभासोंमें की जाती है। + जान पडता है कि द्राविड देशमें होने के कारण ही उसका नाम 'द्राविडसंघ' पड़ा है। परन्तु प्रो० हीरालाल जी एम० ए० इस संघ को इन जैनाभासों से भिन्न नन्दिसघ के ही अन्तर्गत मानते है।

*श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्नंदिसंघेऽस्त्यरुङ्गलः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवाराशिपारगः॥
(Vibe, Ins N 39 Nagar Talup)

+गोपुच्छकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छकश्चेति पचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः।
(नीतसारे इन्द्रनंदी)

आचार्य वादिराजकी जन्मभूमि, पितृकुल और जीवन-संबंधी घटनाओं आदि का कोई भी परिचय उपलब्ध नहीं होता, जिससे उनके जीवन संबंध में यथेष्ट प्रकाश डाला जा सके। परन्तु फिर भी 'पार्श्वनाथचरित' आदिकी प्रशस्तिसे इतना तो निश्चित ही है कि आचार्य वादिराज सिंहपुरके निवासी त्रैविद्येश्वर श्रीपालदेवके प्रशिष्य और मतिसागर मुनिके शिष्य तथा सुप्रसिद्ध 'रूपसिद्धि'† नामक ग्रन्थके कर्ता दयापाल मुनिके सब्रह्मचारी‡ या सहाध्यायी थे +।

'पंचबस्ति' के तृतीय शिलालेखमें जो कि 1147 A. D. और विक्रम सं० १२०४ का खुदा हुआ है वादिराजको गंगवंशीय राजा राचमल्ल चतुर्थ, सत्यवाक्यका भी गुरु लिखा है जो 977 A. D. या वि० सं० १०३४ मे गद्दीपर बैठा था और समर-केशरी चामुण्डराय जैन जिसका सेनापति था।×

आचार्य वादिराज का समय प्रायः विक्रमकी ११वीं शताब्दी सुनिश्चित है क्योंकि वादिराजने स्वयं अपने 'पार्श्वना-

---

† हितैषिणो यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धः सतां मूर्धनि यः प्रभावैः॥

‡ एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः। अमरकोशः—ब्रह्मवर्ग, श्लोक नं० ११।

+ यस्य श्रीमतिसागरो गुरुरसौ चञ्चद्यशश्चन्द्रभूः
श्रीमान्यस्य स वादिराजगणभृत्सब्रह्मचारी विभो.।
एकोऽतीव कृती स एव हि दयापालव्रती यन्मन—
स्यास्तामन्यपरिग्रहग्रहकथा स्वे विग्रहे विग्रहः॥
देखें, श्रवणबेलगोल-मल्लिषेण प्रशस्ति।

× देखो, मिडियावल जैनिज्म पृष्ठ ५७।

थचरित' की प्रशस्तिमें ग्रन्थ-निर्माणका समय शक संवत् ९४७ (विक्रम सं० १०८२) दिया है। जिससे उनका समय ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध ही मालूम होता है। वह प्रशस्ति निम्न प्रकार है :—

श्री जैन सारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्वैः ।
प्रसिद्धभागो मुनिपुङ्गवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निवर्हिताहाः ॥१॥
तस्मिन्नभूदुद्यतसंयमश्रीस्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।
सूरिः स्वयंसिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥२॥
तस्याभवद्भव्यपयोरुहाणां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः ।
निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागरस्य ॥३॥
तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना निःश्रेयसं श्रीरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा जनीस्वबुद्ध्येयमनिंद्यापि ॥४॥
शाकाब्दे नगवाधिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहित शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे याति जयादिके वसुमती जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥५॥
लक्ष्मीवासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यंद सिंधुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकातपुण्यः ॥६॥

भावार्थ—श्रीजैनवाङ्मय रूपी पुण्यतीर्थमें अवगाहन करने से निर्मल बुद्धिरूप सत्त्व जिन्हें प्राप्त हुआ है, ऐसे मुनिश्रेष्ठो के द्वारा यह निर्दोष नन्दिसंघ प्रसिद्ध हुआ है।१। उस प्रसिद्ध नन्दिसंघमें अद्भुत संयमरूपी लक्ष्मीवाले और त्रैविद्य-विद्याधरों के द्वारा जिनकी कीर्ति गाई गई है तथा न्यायमार्ग पर चलने वाले, सिंहपुर में एक अद्वितीय 'श्रीपालदेव' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य थे।२। उनके भव्यरूपी कमलों के अंधकारको नष्ट

करने वाले तथा जिनकी लक्ष्मी निरन्तर ही उदयको प्राप्त है और जो कुमार्गरूपी नयके प्रभावका निषेध करने वाले हैं ऐसे श्रीमतिसागर नामके शिष्योत्तम—प्रधान शिष्य हुए ।३। उनके चरण कमलोंके भ्रमर अर्थात् शिष्य और मुक्तिरूपी लक्ष्मी के लोलुप वादिराजने इस जैनी निर्दुष्ट कथाको स्वयं अपनी बुद्धि से रचा है ।४। आचार्य वादिराजने इस 'पार्श्वनाथचरित' को क्रोधन सवत्सरमें शक स० ९४७ वि० सं० १०८२ में कार्तिक मासकी शुद्ध तृतीयाके दिन राजा जयसिंह नरेशकी राजधानी सिंहपुरमें—उनके राज्यशासन कालमें—बनाकर समाप्त किया है वह तुम्हारे कल्याणके लिये हो ।५। जिस समय राजा जयसिंह की राजधानी कट्टगानदीके + किनारेपर लक्ष्मीवास नामक स्थानमें धन-धान्य तथा हर्षादिसे परिपूर्ण थी, उस समय पार्श्वनाथ जिनपतिके जीवन-वृत्तान्तों से अतिशय पुण्यवर्धक और नवरसरूप अमृतके बहावसे निकला हुआ यह सिन्धु प्रबन्ध भले प्रकार जयवंत हो ।६।

इतिहासका अवलोकन करनेसे मालूम होता है कि जयसिंह नरेश पश्चिमी चालुक्य वशमें हुए हैं। यह अच्छे प्रतापी, न्याय-प्रिय और शासन-व्यवस्थामें दक्ष थे। पृथिवीवल्लभ, महाराजाधिराज परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परम भट्टारक और जगदेकमल्ल आदि उपाधियोंके धारक थे। इन्हें तृतीय जयसिंह कहते हैं‡। इनके समयके अनेक शिलालेख और ताम्रपत्र पाये जाते है। परन्तु उनसे उनके राज्यारोहण आदिका कोई निश्चित समय उपलब्ध नही होता। उन सब शिलालेखोंमेंसे सबसे

+प्रयत्न करने पर भी यह मालूम नहीं हो सका कि यह 'कट्टगा' नदी कहा पर है।

‡ देखो, मिडियावल जैनिज्म, पृ० ४७।

पहला लेख शक सं० ९३८ (वि० सं० १०७३) का है और सबसे पिछला शक स० ९६४ (वि० १०९९) का है जिससे इतना तो सहज ही में निश्चय हो जाता है कि राजा जयसिंह ने शक सं० ९३८ से ९६४ तक २६ वर्ष राज्य किया है। और उसके बाद उनके राज्य का उत्तराधिकारी उनका पुत्र सोमेश्वर (आहवमल्ल) हुआ था।

राजा जयसिंह बड़ा पराक्रमी-शूरवीर और धर्मात्मा था। इसे विद्यासे विशेष प्रेम था, इसी कारण मल्लिषेण प्रशस्ति' में जयसिंह की राजधानी को 'वाग्वधूजन्मभूमी' पद दिया हुआ है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जयसिंह नरेशकी राजधानी में विद्याकी विशेष गूंज थी, और वहाँ बड़े बड़े वाग्मी, कवि, नैयायिक एव प्रतिभासम्पन्न वादी विद्वान् रहते थे। इसके राज्यमें आचार्य वादिराजने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी और जयसिंह नरेश-द्वारा इन्हें 'जगदेकमल्लवादि' नामका विरुद भी प्राप्त हुआ था।

शक सवत् ९४५ पोष कृष्ण दोयजके एक शिलालेखसे तो यह बात भी जानी जाती है कि राजाओं के राजा जयसिंहने जो भोजरूपकमल के लिये चन्द्र और राजेन्द्रचोल (परकेशरी-वर्मा) हाथी के लिये सिहके समान था। मालवावालों के सम्मिलित सैन्यका पराजय किया उन्हें शिकस्त दी—और चेर तथा चोलवालों के लिये भी सज़ा दी।*

यद्यपि यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती कि जयसिंह नरेश जैनी थे, परन्तु उनकी जैनधर्म में श्रद्धा जरूर थी और वह आचार्य वादिराजकी तपस्या, विद्वत्ता और उनकी

*परन्तु कई ऐतिहासिक विद्वान् इस बातसे सहमत नहीं हैं कि जयसिंह नरेशने राजा भोज को हराया था।

काव्य-शक्ति पर अतिशय मुग्ध थे। वे उनका उचित सम्मान करते थे। इसी कारण जैनधर्म और उसके अनुयायियों पर उनकी विशेष कृपा-दृष्टि रही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे उन्हें केवल आदरकी दृष्टि से ही नहीं देखते थे किन्तु उनकी भक्ति भी करते थे। इसीलिये 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' में 'सिंहसमर्च्यपीठ-विभवः' पद वादिराजके प्रति विशेषणरूपसे दिया हुआ है, जिससे जयसिंह नरेश-द्वारा उनके सम्मानित होनेका स्पष्ट समर्थन होता है। और यही कारण है कि आचार्य वादिराजने प्रायः अपनी सभी ग्रन्थ-रचनाएँ जयसिंह नरेशकी राजधानी में ही की है*।

आचार्य वादिराजकी इस समय तक छह कृतियोंका पता चलता है, एकीभावस्तोत्र, पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थचरित, यशोधरचरित, न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय। शेष पाँचों उपलब्ध ग्रन्थोंमें से ४ प्रकाशित भी हो चुके हैं और एक न्यायविनिश्चयविवरण अभी मुद्रित नहीं हुआ है और काकुत्स्थ-चरित उपलब्ध नहीं हुआ है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

एकीभावस्तोत्र

यह एक छोटा सा संस्कृतका स्तोत्र ग्रन्थ है जिसकी श्लोक संख्या सिर्फ २५ + है, छन्द मन्दाक्रान्ता है। यह स्तोत्र सरस

* 'न्यायविनिश्चय विवरण' और पार्श्वनाथ चरित आदि की प्रशस्तिपरसे यह बात स्पष्ट रूपसे जानी जाती है।

+ एकीभावस्तोत्रके अन्तमें एक पद्य और भी पाया जाता है जिसमें आचार्य वादिराजकी खूब प्रशंसा की गई है। उसकी रचना आदि परसे स्पष्ट जाना जाता है कि यह श्लोक स्वयं वादिराजका बनाया हुआ नहीं है, किन्तु उनके किसी शिष्य द्वारा बनाया हुआ जान पड़ता है, इसी लिये उसे मूल ग्रन्थ में शामिल नहीं किया गया है।

और भक्तिरसरूप-माधुर्यसे ओत-प्रोत है। स्तोत्र की संस्कृत मृदु, सरस और पद लालित्य को लिये हुए है। इस स्तवन का एक पद्य श्लेषात्मक और द्व्यर्थक भी है। इसके कई पद्य बड़े अच्छे हैं जिनमें बड़ी खूबी के साथ कविने अपने भावोंका चित्रण किया है। और जैनधर्मकी मान्यताके अनुसार सच्चे देवके स्वरूपका अच्छी तरह से प्रतिपादन किया है। इस स्तोत्र की खास विशेषता यह है कि इस में अन्य 'आदि-नाथ (भक्तामर) 'पार्श्वनाथ' (कल्याणमन्दिर) आदि स्तवन की तरह किसी एक तीर्थंकर विशेष की स्तुति नहीं की है किन्तु यह सामान्य स्तुतिग्रन्थ है। दि० जैन समाज में इसके पठन-पाठन का बहुत प्रचार है। स्तोत्र को एक बार पढ़ कर फिर छोड़ने को जी नहीं चाहता। पाठकों की जानकारी के लिये उसका एक पद्य नमूने तौर पर नीचे दिया जाता है:-

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभंगी तरङ्गै-
र्वागाम्भोधि र्भुवनमखिलं देव पर्येति यस्ते।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेत सैवाचलेन,
व्यातन्वन्त. सुचिरममृतासेवाया तृप्नुवन्ति ॥१८॥

अर्थात् हे नाथ! अस्ति और नास्ति आदि सप्तभंगरूप तरंगोंसे अथवा अनेकान्तके माहात्म्यसे-शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मत्व बुद्धिरूप जीवके विपरीताभिनिवेशको दूर करने वाले आपके वचनसमुद्र को जो भव्य जीव निरन्तर अभ्यास मनन एवं परिशीलन करता है—आगमोक्त विधि से अभ्यास कर चित्तकी निश्चलता तथा दया-दम-त्याग और समाधि की पराकाष्ठा को—चरम सीमा को—प्राप्त करता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और वहां अव्याबाध आत्मोत्थ अनन्त सुख में मग्न रहता है। यह सब आप के वचन समुद्र का ही माहात्म्य एवं प्रभाव है। कहा जाता है कि इस

स्तवन के माहात्म्यसे-आचार्य वादिराजका कुष्ठरोग दूर हो गया था]।

[इसकी कथा संक्षिप्त रूप से इस प्रकार है:—

एक समय आचार्य वादिराजको कुष्ठरोग हो गया था। राजा जयसिंह के दरबार में जब इस बात की चर्चा चली तब वहां बैठे हुए एक गुरुभक्त श्रावकसे पूछे जाने पर उसने गुरु निन्दाके भयसे कह दिया कि हमारे गुरु वादिराज कोढ़ी नहीं है। इसपर बहुत देर तक बहस एवं ज़िद् हुई। अन्तमें यह स्थिर हुआ कि महाराज स्वयं चलकर वादिराज को देखेंगे। गुरुभक्त श्रावकने उस समय कह तो दिया परन्तु पीछे से उसे बड़ी चिन्ता हुई। अतः और कोई उपाय न देखकर गुरुजीके पास जाकर उनसे अपनी सब भूल प्रकट कर दी और कहा कि अब लाज रखना आपके ही हाथ है। तब उसके चित्तकी घबडाहट दूर करते हुए आचार्य श्रीने कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं है, धर्मके प्रसादसे सब ठीक हो जायगा। कहते हैं कि आचार्य वादिराजने उसी समय 'एकीभावस्तोत्र' की रचना प्रारंभ करदी, उस स्तवन के प्रभाव एवं माहात्म्य से वादिराज का कुष्ठ रोग दूर हो गया और शरीर सुवर्ण जैसी कान्तिवाला बन गया। दूसरे दिन राजा जयसिंह ने जब जाकर वादिराज को स्वयं देखा तो उनका शरीर विकार-रहित सुवर्ण सी कान्तिवाला था उस समय उनके शरीर में व्याधिका कोई भी चिन्ह अवशिष्ट न था यह देखकर उन्होंने उस पुरुष की ओर रोषभरी दृष्टिसे देखा जिसने दरबार में उस बात का जिकर किया था। मुनिराज ने राजा की इस रोषभरी दृष्टि को पहिचान कर कहा कि राजन्! उस पुरुष पर गुस्सा न कीजिये, उसने जरा भी असत्य नहीं कहा है,—उस समय मैं सचमुच कोढ़ी था और धर्म के प्रभाव से आज ही मेरा कुष्ठ दूर हुआ

और उसका कुछ आभास 'एकीभावस्तोत्र' के चतुर्थ पद्यसे स्पष्ट जाना जाता है। वह पद्य इस प्रकार है:-

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वी-चक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट
स्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

अर्थ—हे भगवन्! स्वर्गलोकसे माताके गर्भमें आनेके छः महीने पहलेसे ही जब आपने इस पृथ्वी मंडलको सुवर्णमय कर दिया, तब ध्यानके द्वार से मेरे सुन्दर अन्तर्गृह में प्रवेश कर चुकने पर यदि आप मेरे शरीर को सुवर्णमय कर दें तो इसमें क्या आश्चर्य है? इसके सिवाय, एकीभावस्तोत्र* के ३ रे, ५ वें और ७ वें पद्यका भाव भी इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है।

इस स्तोत्र पर अभी तक दो संस्कृत की बहुत ही साधारण टीकाएँ मेरे देखने में आई हैं। दोनोंकी प्रतिलिपि बहुत कुछ अशुद्ध है। और उसी परसे बहुत कुछ सावधानी पूर्वक एक टीका इस स्तवनके साथ प्रकाशित की है। इस टीका-के कर्ता श्री चन्द्रकीर्ति भट्टारक हैं*। परन्तु ये कब हुए और उनकी गुरु परम्परा क्या है? यह कुछ भी मालूम नहीं हो सका।

दूसरी टीका अर्थावबोध नाम की है। जिसके रचयिता पं० शिवचन्द्र जी हैं। इसकी एकप्रति आरा जैनसिद्धान्त-

---

है और रोग का कुछ अंश अब भी इस कनिष्टिका अंगुली में मौजूद है। राजा को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ और भक्ति पूर्वक नमस्कार कर नगरको वापिस लौट आया।

* ऐसा पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारकी पंचस्तोत्र की संस्कृत टीका वाली प्रति से मालुम होता है। परन्तु आराकी प्रति में कहीं भी कर्ता का नाम नहीं दिया गया है।

भवन में है और भवन के अध्यक्ष पं० के० भुजबली शास्त्री के सौजन्य से वह मुझे देखनेको प्राप्त हो सकी है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूं।

इसके सिवाय पं० भूधरदास जी ने जो एकीभावस्तोत्र का हिन्दी पद्यानुवाद किया है वह बहुत अच्छा है इसीसे उसे भी साथ में प्रकाशित किया गया है। आशा है वह पाठकों को रुचिकर होगा।

पार्श्वनाथचरित †

यह एक संस्कृत का काव्य-ग्रन्थ है। इसमें १२ सर्ग हैं। इस ग्रन्थमें वादिराजने अपनेसे पूर्व होनेवाले कुछ—ग्रन्थ कर्ताओंका, उनकी कृतियों आदिके साथ स्मरण किया है। उनके नाम इस प्रकार है—गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, अकलंक, वादिसिंह, सन्मति, जिनसेन, अनंतकीर्ति, पाल्यकीर्ति, धनंजय, अनंतवीर्य, विद्यानंद और वीरनंदी। यह ग्रन्थ काव्यकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ और कमठके जीवन वृतान्त के साथ साथ कमठ के द्वारा होनेवाले उपसर्गोंको जीत कर परमात्मपद-प्राप्तिका कितना ही सुन्दर एवं सरस वर्णन है। यद्यपि मेरी इच्छा थी कि पार्श्वनाथचरित के कुछ चुने हुए सुन्दर पद्योंका पाठकों को रसास्वदन कराऊं, परन्तु लेख-वृद्धिके भय और अनवकाशके कारण ऐसा नहीं कर सका। पाठकों से अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थका अभ्यास कर उसकी विशेषताएँ मालूम करें।

काकुत्स्थचरित

यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। परन्तु नामसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थ में संभवतः रामचन्द्र जीका चरित

---

† यह ग्रन्थ 'माणिकचन्द्रग्रन्थमाला' में नं० ४ पर प्रकाशित हो चुका है।

वर्णित होगा; क्योंकि 'काकुत्स्थ' शब्द रामचन्द्र और रघुवंशके लिये भी आता है। ग्रन्थकारने स्वयं इसके बनाने का उल्लेख 'यशोधरचरित'के प्रथम सर्गके छठवें श्लोक में किया है—

श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरी कथा॥

इसमें बताया है कि जिसने पार्श्वनाथ और काकुत्स्थ चरित की रचना की, उसी वादिराज ने यह यशोधर चरित बनाया है। परन्तु न मालूम यह ग्रन्थ किस भण्डारकी काल-कोठरी में दीमक कीटकादिका भक्ष्य बना होगा। अस्तु, जिन वाणीके प्रेमियोंका कर्तव्य है कि वे इसकी खोज कर प्रकाशमें लाएँ, जिससे इस विषय का निर्णय हो जाय।

यशोधरचरित

उक्त दोनों काव्य-ग्रन्थों का निर्माण होने के बाद इस ग्रन्थकी रचना की गई है और इस बात को इस काव्य में स्वयं ग्रन्थकारने सूचित किया है। यशोधरचरित संस्कृतका एक छोटासा चतुः सर्गात्मक काव्य-ग्रन्थ है। इसमें महाराज यशोधरका चरित बड़ी ही खूबी के साथ वर्णित है। ग्रन्थकी भाषा सरल और सुगाठ्य है। रचना-चातुर्य देखते ही बनता है। कथनशैली रोचक और हृदयस्पर्शिनी है।

न्यायविनिश्चय विवरण

सातवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य अकलंकदेवका 'न्यायविनिश्चय' नामका ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थपर आचार्य वादिराजने एक विस्तृत टीका लिखी है, जिसका नाम न्यायविनिश्चयविवरण अथवा 'तात्पर्यविद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला * है। यह टीका बहुत ही अच्छी और

---

* न्यायविनिश्चयविवरण प्रशस्तिमें इसी नामका द्योतक पद्य इस प्रकार है:

व्याख्यानरत्नमालेयं स्फुरन्नयदीधितिः। (?)
क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदती मानसं तमः॥

विषयको स्पष्ट करनेवाली है ! इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और प्रमेय-बहुल है। परन्तु इसकी महत्ता और उपादेयताको वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने जैनदर्शनका स्याद्वाद और अनेकान्त-वादके रहस्यका अच्छी तरह से परिशीलन या अनुभव किया है।

इस ग्रन्थमें कितनेही मतोंका—विद्वानों और उनकी मान्यताओंका—सयुक्तिक खण्डन किया गया है। और जैन दर्शनकी मान्यताओं का बडी खूबीके साथ—अनेकान्त पद्धति से तथा विवेचनात्मक रूपसे मंडन किया गया है। न्याय-विनि-श्चयविवरणमें बौद्धविद्वान् धर्मकीर्ति प्रज्ञाकर, उम्बेक, शबर, विश्वरूप, सुमतिदेव वेदमस्तक, व्योमशिव, भासर्वज्ञ, विन्ध्या-वासिन, मण्डनमिश्र कुमारिल, आत्रेय, धर्मोत्तर और शान्त-भद्र आदि विद्वानों की मान्यताओंका निरसन किया गया है। खासकर धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिकालंकार' और प्रज्ञाकरके वार्तिकालंकारके भिन्न भिन्न स्थलोंका आनुपूर्वीसे खण्डन किया गया है। साथ ही, 'हेतुबिन्दु' और अर्चटकी टीकाका भी यत्र तत्र निरसन पाया जाता है। इनके सिवाय, समन्तभद्र आदि जैनाचार्योंकी युक्तियोंको प्रमाणरूपमें उद्धृत किया गया है।

इस ग्रन्थ में 'स्याद्वादमहार्णव' नामके एक न्यायग्रन्थका एक श्लोक उद्धृत किया है—

यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे—

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिक्रियानुमेया स्याद्यूनाकान्तासमागमे ॥

परन्तु प्रयत्न करने पर भी मुझे यह मालूम न हो सका कि यह ग्रन्थ कहां है, किस आचार्य का बनाया हुआ है और उनका परिचय क्या है ? यद्यपि यह पद्य अष्टसहस्री में भी पाया

जाता है, परन्तु उससे ग्रन्थ व ग्रथकर्ता आदिका कोई पता नहीं चलता है। फिर भी, यह न्यायका कोई महत्वपूर्ण ग्रथ अवश्य मालूम होता है। इस ग्रन्थ के विषय में अन्वेषण होना चाहिये, जिससे उक्त ग्रन्थ कालकोठरियों से बचकर प्रकाशमें आजाय। आशा है, धर्मप्रेमी और जिनवाणी भक्त सज्जन इसकी खोज करनेका प्रयत्न करेंगे। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिके निम्न पद्यसे भी यह बात निश्चित हो जाती है कि इस टीकाकी रचना भी राजा जयसिंह की राजधानी में ही हुई है। यथाः—

श्रीमत्सिंहमहीपते: परिषदि प्रख्यातवादोन्नति-
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरि: सारस्वत: श्रीनिधि: ।
शिष्य: श्रीमतिसागरस्य विदुषा पत्युस्तप:श्रीभृता ।
भर्तु: सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापति: ॥१॥

प्रमाणनिर्णय

आपका छठा ग्रन्थ 'प्रमाणनिर्णय' है। यह न्याय-विषयका एक स्वतंत्र ग्रन्थ है, इसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नामके चार परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम श्लोक में देव के मतका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। इस ग्रन्थ की रचना 'न्यायविनिश्चय' की 'व्याख्यान-रत्नमाला' नामकी टीकाके बादमें हुई है, क्योंकि पृष्ठ १६ पर दिये हुए उद्धरणके साथ एक कारिकाभी उद्धृत की गई है जिससे इस बात की पुष्टि हो जाती है। उद्धरण-सहित वह कारिका इस प्रकार है:-

"अत एव परामर्शात्मकस्य स्पष्टत्वमेव मानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादित-मलङ्कारे"।

इदमित्यादियज्ज्ञानमभ्यासात्पुरत: स्थिते ।
साक्षात्करणतस्तत्र प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥

यह ग्रन्थ न्याय-शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये बहुत उपयोगी है। आशा है कि पाठक-गण आचार्य वादिराज के ग्रन्थों का परिशीलन करेंगे।

इसके सिवाय पं० नाथूराम जी प्रेमी पार्श्वनाथचरित की भूमिका में लिखते हैं कि एक सूची में वादिराजके चार और ग्रन्थोंके नाम मिलते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— रुक्मणियशोविजय, वादमंजरी धर्मरत्नाकर और अकलंकाष्टक टीका, परन्तु ये ग्रन्थ अभी तक मेरे देखने में नहीं आये। इस लिये, ये ग्रन्थ जब तक सामने न हों तब तक इनके देखे बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि इनके कर्त्ता यही वादिराज हैं या अन्य कोई दूसरे वादिराज नाम के विद्वान हैं। क्योंकि वादिराज नामके कई विद्वान हो गये हैं।

१ एक वादिराज पोमराज के पुत्र हुए हैं- जिन्होंने 'ज्ञानलोचन' नामका स्तवन बनाया है।

२ एक वादिराज 'अध्यात्माष्टक' और वाग्भटालंकार टीका के कर्त्ता हुए हैं।

३ एक वादिराज 'यशोधरचरित' कर्नाटकके कर्त्ता हुए हैं। संभव है उन ग्रन्थोंके कर्त्ता भी यही वादिराज हों। अस्तु उन ग्रन्थोंका परिशीलन किये बिना निश्चय रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

नोट—इस लेख के लिखने में जिन विद्वानों के लेखों और मिडिएवल जैनिज्म आदि पुस्तकोंसे सहायता मिली है उन सबका मैं आभारी हूं।

परमानन्द जैन

ता० २०-८-१९४०

———



श्रीमद्वादिराजसूरिकृत

एकीभावस्तोत्रम्

(टीकाद्वय-संयुक्तम्)

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो।
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति॥
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चे-
ज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः॥१

पं० भूधरदास कृत पद्यानुवाद

वादिराज मुनिराजके, चरण कमल चित लाय।
भाषा एकीभावकी, करूं स्वपर सुखदाय॥
जो अति एकीभाव भयो मानो अनिवारी।
सो मुझ कर्म प्रबन्ध करत भव भव दुख भारी।
ताहि तिहारी भक्ति जगतरवि जो निरवारै।
तो अब और कलेश कौन सो नाहि विदारै॥१॥

(श्रीचन्द्र भट्टारक कृत संस्कृत टीका)

संस्कृत टीका—जिनेषु रविः सूर्यस्तस्यामन्त्रणे हे जिनरवे! यः कर्मबन्धः अष्टकर्मणां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्विधो बंधः स्वयं घोरं निविडं दुःखं करोति विदधाति । कीदृशः कर्मबन्धः मयासह एकीभावं गत इव- एकत्वमापन्न इव । पुनः भव-भवगतः प्रतिभवगतः पुनः दुःखेन वारयितुमशक्यः दुर्निवारः । तस्य कर्मबन्धस्य अस्यापि दुःखस्यापि चेत् यदि त्वयि भगवति विषये भक्तिः तर्हि उन्मुक्तये उन्मोचनाय भवति । तथाविधया भक्त्या कृत्वा कः अपरस्तापहेतुःको वा जेतुं न शक्यो भवति? जयो भवतीत्यर्थः । भो जिन! संसार संतापं त्वद्भक्ति बिना कोपि जेतुं शक्तो न भवति तीति तात्पर्यं । अपितु जेतु शक्य इत्यर्थः ॥

पं० परमानन्द शास्त्री कृत सान्वयार्थ हिन्दी टीका–

अन्वयार्थ—हे (जिनरवे) हे जिनसूर्य! (मया-सह) मेरी आत्माके साथ (स्वयं) अपने आप (एकीभावं) तन्मयताको (गत इव) प्राप्त हुये की तरह (दुर्निवारः) बड़ी कठिनाई से दूर करने योग्य (यः) जो (कर्मबंध) ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकारका-अथवा प्रकृति स्थिति-अनुभाग और प्रदेशके भेद-से होने वाला चार प्रकार का-कर्मबन्ध (भवभवगतः) [सन्] प्रत्येक पर्याय [illegible] हुआ (घोरम्) भयानक (दुःखम्) दुःखको (करोति) करता है। (त्वयि) आपके विषय में होने वाली (भक्ति) भक्ति अनुरागविशेष (चेत्) यदि (तस्यापि अस्य) उस कर्मबन्ध और उस दुःखके भी (उन्मुक्तये) छुडाने-दूर करने के लिये है (तर्हि) तो फिर

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं,
त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः ।
चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्रासमान-
स्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ।२।

तुम जिन ज्योतिस्वरूप, दुरितअंधियार निवारी ।
सो गणेश गुरु कहै, तत्व–विद्या–धन धारी ॥
मेरे चित–घरमाँहि, बसौ तेजोमय यावत ।
पापतिमिर अवकाश, तहाँ सो क्योंकर पावत ॥२॥

टीका—जिनेषु गणधरदेवेषु वर श्रेष्ठस्तस्यामंत्रणे हे जिनवर! चिरं चिरकाल तत्त्वविद्याभियुक्ताः तत्वज्ञानिनोगणधर-देवादयः त्वामेव ज्योतोरूप परं तेजः स्वरूपं अर्हं इत्याहुः भणन्ति तत्त्वविद्याभिः अभियुक्ताः संयुक्ताः तत्त्वविद्याभियुक्ताः ज्योति स्तेजः एवरूप यस्य स तं। कीदृशं त्वां–दुरितानां पापानां निवह समूहः स एव ध्वान्त तमस्तस्य विध्वंसस्यहेतुः कारणं तं: भो देव

(तया) उस भक्ति के द्वारा (अपरः) दूसरा (कः) कौन (तापहेतुः) सन्तापका कारण (जेतुं शक्यः न भवति) जीता नही जा सकता ? अर्थात् अवश्य जीता जा सकता है ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब कि आपकी समीचीन भक्ति के द्वारा चिरपरिचित और अत्यन्त दुःखदायी एवं आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिले हुये कर्मबन्धन भी दूर किये जाते हैं। तब दूसरा ऐसा कौनसा सन्तापका कारण है जो कि उस भक्ति के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता अर्थात् दुःखके सभी कारण नष्ट किये जा सकते हैं ।

च पुनः मम चेतोवासे मनोगृहे स्फारं बहुलं यथास्यात्तथा उद्भासमान. दीप्यमानः सन् त्वं भवसि जातोसि । तस्मिन् मनोगृहे अंहः पापं तदेव तमोऽधकारं । कथमिव किमिव ? वस्तुतो-निश्चयात् वस्तुं स्थातुं ईष्टे स्थितिं करोति अपितु न ईष्टे इत्यर्थः ॥

अन्वयार्थ— (हे जिनवर) कर्म शत्रुओंको जीतने वालों में श्रेष्ठ हे जिनेन्द्र ! जब कि (तत्वविद्याभियुक्ताः) तत्वज्ञानी गणधरादिदेव (चिरं) चिरकाल से (त्वाम् एव) आपको ही (दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं) पापसमूहरूपी अंधकार के नाश करने में कारणभूत (ज्योतीरूपम) तेजरूप-ज्ञानस्वरूप (आहुः) कहते है । (च) और आप (मम) मेरे (हमारे) (चेतोवासे) मनरूपी मंदिर में (स्फारं) अत्यन्त रूप से निरंतर (उद्भासमनः) प्रकाशमान (भवसि) हो रहे हो तब (तस्मिन्) उस मन मन्दिर मे (वस्तुतः) निश्चय से (अंहः) (तमः) पापरूपी अन्धकार (वस्तुं) निवास करने के लिये-ठहरनेकेलिये (कथमिव) किस तरह (ईष्टे) समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।

भावार्थ—हे नाथ जब कि आपको, अतिशय बुद्धि के धारक गणधरादि देवोंने, पापरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान कहा है और आप मेरे मन-मन्दिरमें अच्छी तरहसे प्रकाशमान भी हो रहे हैं, तब उसमें पापरूपी अंधकार कैसे ठहर सकता है ? अर्थात् जो आपको अपने हृदयमें धारण करता है उसके सब पाप नष्ट होजाते हैं ।

आनन्दाश्रु स्नपित वदनं गद्गदं चाभिजल्पन्,
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमंत्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहः-वल्मीक-मध्या-
न्निष्कास्यन्ते*विविध विषमव्याधयः काद्रवेयाः।३।

आनद आँसु वदन धोय तुमसों चित सानै,
गद्गद सुरसों सुयशमंत्र पढ़ि पूजा ठानै।
ताके बहुविधि व्याधि व्याल चिरकालनिवासी,
भाजै थानक छांड़ देह–बाँवईके वासी ॥३॥

टीका—यः कश्चित् पुमान् भवन्तं त्वा स्तोत्रमंत्रैः कृत्वा स्तवनरूपमंत्रैः आनन्दाश्रुभिः हर्षाश्रुभिः स्नपितं वदनं यत्र तत् यथास्यात्तथाचायेत पूजयेत् च स्तुतिं कुर्यात्। च पुनः हर्षात्, गद्गद अव्यक्तशब्द अभिजल्पन् कथम्भूतो यः त्वयि परमेश्वरे दृढं निश्चलं मनो यस्य सः। एकाग्रचित्तः तस्य पुरुषस्य देहवल्मीकमध्यात् विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः नानाविधविषमरोगलक्षणाः सर्पाः निष्कासन्ते बहिः निर्गच्छन्ति। देहः शरीरं स एव वल्मीकस्तस्य मध्यं तस्मात्। विविधा नानाप्रकाराः विषमश्चते व्याधयश्च विविधविषमव्याधयः। कद्रोरपत्यानि काद्रवेयाः कथम्भूताः विविधविषम-

---

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! **(आनन्दाश्रु स्नपिवदनं च गद्गदं)** आनन्दाश्रुओं—हर्षरूपी आसुओंसे मुखको प्रक्षालित करता हुआ और अव्यक्त ध्वनिसे **(अभिजल्पन्)** स्तुति

---

*निष्कासन्ते पाठः ग पुस्तके वर्तते। संस्कृत टीका कारने भी इसी पाठ को अपनाकर व्याख्या की है

व्याधयः काद्रवेयाः। सुचिरं चिरं अभ्यस्ता अपि चिरं निवसिता अपि विविधविषयव्याधयः। इति पाठान्तरे विविधः नानाविधः विषयो येषां ते स्तोत्रमेवमन्त्राः स्तोत्रमन्त्रास्तैः स्तोत्रमंत्रैः ॥३॥

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्-
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्येत्वयेदम्।
ध्यानद्वारं ममरुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णी करोषि॥४॥

करता हुआ (**यः**) जो मनुष्य (**स्वयं**) आपमें (**दृढमनाः**) स्थिर चित्त होकर (**स्तोत्रमंत्रैः**) स्तवनरूप मंत्रों से (**भवन्तम्**) आपको (**अर्येत्**) पूजता है– स्तुति करता है। (**तस्य**) उसके (**सुचिरम्**) चिरकालसे (**अभ्यस्तात् अपि**) परिचित भी (**देहवल्मीक मध्यात्**) शरीर रूपी वामीके मध्यस-बीचसे (**विविध-विषमव्याधयः**) अनेक प्रकारके कठिन रोग रूपी (**काद्रवेयाः**) साप (**नष्कास्यन्ते**) बाहर निकाल दिये जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार समीचीन मन्त्रोंको सामर्थ्यसे वामीके मध्य भागसे सांप बाहर निकाल दिये जाते है ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्रके स्तवन रूप मन्त्रोसे, स्तवन-पूजन करने वाले भव्य पुरुषोंकी विषम विषयरूप व्याधियाँ भी दूर करदी जाती हैं। अर्थात् जो मनुष्य भक्तिपूर्वक– श्रद्धासे सम्पन्न होकर एकाग्रचित्त- से जिनेन्द्र भगवानका पवित्र स्तवन करता है उसके पुरातन विषम रोग भी दूर हो जाते हैं और उसका शरीर निरोग बन जाता है।

दिवितैं आवनहार भये भविभाग उदयबल,
पहले ही सुरआय कनकमय कीय महीतल।
मनगृहध्यानदुवार आय निवसो जगनामी,
जो सुवरन तन करो कौन यह अचरज स्वामी ॥४॥

टीका—भो देव-भव्यपुण्यात् त्रिदिव भुवनात् स्वर्गलोकात् इहलोके एष्यता समागमिष्यता त्वया परमेश्वरेण प्रागेव पूर्वमेव इदं पृथ्वीचक्रं भूवलयं रत्नवृष्ट्यादिभिः कनकमयता सुवर्णमयता निन्ये नीतं। त्रिदिवः स्वर्गस्तस्य भवनं गृहं विमानं वा तस्मात्। भव्यानां पुण्यं भव्यपुण्यं तस्मात् एष्यतीति एष्यस्तेन एष्यता। पृथ्व्याश्चक्रं पृथ्वीचक्रं। कनकविकारः कनकमयतस्तभावस्तां। हे जिन! मम स्वान्तगेहं ममान्तःकरणमंदिरं त्वं प्रविष्टःसन् यत् इदं मद्रोगं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपुः शरीरं सुवर्णीकरोषि, तत्किंचित्रं तत्किमाश्चर्यं न किमपि आश्चर्यमित्यर्थः। असुवर्णं सुवर्णं करोषि, इति सुवर्णीकरोषि। स्वान्तमेव गेहं स्वान्तगेहं कीदृशं स्वान्तगेहं। ध्यानमेवद्वारं यस्मिन् तत्। पुनः रुचिकरोतीति रुचिकरं मनोहरमित्यर्थः ॥४॥

अन्वयार्थ—(हे देव!) हे भगवन्! (भव्यपुण्यात्) भव्यजीवोंके पुण्यके द्वारा (इह) यहां पर (त्रिदिवभवनात्) स्वर्गलोकसे-माता के गर्भ में (एष्यता) आनेवाले (त्वया) आपके द्वारा (प्राक् एव) पहले ही जब (इदम्) यह (पृथ्वीचक्रम्) भूमण्डल पृथ्वीमण्डल (कनकमयतां) सुवर्णमयताको (निन्ये) प्राप्त कराया गया था। तब (हे जिन!) हे जिनेन्द्र!

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धु—
स्त्वय्येवाऽसौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका ।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन् मामिकां चित्तसय्यां
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ॥५॥

प्रभु सब जगके बिनाहेत, बाँधव उपकारी,
निरावरण सर्वज्ञ शक्ति जिनराज तिहारी।
भक्ति रचित मम चित्त सेज नितवास करोगे,
मेरे दुख-संताप देख किम धीर धरोगे ॥५॥

टीका—हे भगवन ! त्वं एक अद्वितीयो लोकस्य निर्निमित्तेन निष्कारणेन बान्धवो वर्तसे । त्वय्येवासौ शक्तिः सकल विषया

(**ध्यानद्वारं**) ध्यानरूपी दरवाजे से युक्त (**मम**) मेरे (हमारे) (**रुचिकरम्**) सुन्दर (**स्वांतगेहं**) मनरूपमंदिर में (**प्रविष्टं**) प्रविष्ट हुए (**इदं वपुः**) इस शरीरको—कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीरको (**यत्**) जो (**सुवर्णीकरोषि**) सुवर्णमय कर रहे हो (**किंचित्रम्**) उसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—जब कि स्वर्गलोकसे माता के गर्भ में आने के छह महीने पहले ही आपने इस पृथ्वीमण्डल को सुवर्णमयी बना दिया तो फिर ध्यान के द्वारा मेरे मनोहर अन्तः करणरूप मंदिर में प्रविष्ट हुये आप कुष्ठरोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को यदि सुवर्णमयी बना दें तो उसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् कुछ नहीं ।

वर्तते सकलं विषयो यस्याःसा । कथंभूताशक्तिः अप्रत्यनोका प्रतिषेधरहिता । कीदृशास्ता मामिकां मदीया चित्तशय्यां चिर• चिरकालं अधिवसन् । ममेयं मामिका ता, चित्तमेवशय्या चित्तशय्या ता । कीदृशा चित्तशय्यां भक्त्यास्फीता महतीभक्तिः स्फीता ता । यतः कारणात् निष्कारण बन्धुस्तत् कारणात् मय्युत्पन्न क्लेशयूथ कष्टसमूह कथमिव सहेथाः किमिव सहनं कुर्वीथा, क्लेशाना यूथ क्लेशयूथम् ॥५॥

अन्वयार्थ–(हेभगवन् !) हे भगवन ! जब (त्वम्) आप (लोकस्य) संसार के प्राणियों के (निर्निमित्तेन) स्वार्थ रहित-बिना किसी प्रयोजन के (एकः) अद्वितीय (बन्धुःअसि) बन्धु-हितकरने वाले हो । और (असौ) यह (सकलविषया-शक्तिः) सब पदार्थों को विषय करने वाली शक्ति भी (त्वयि) आपमें ही (अप्रत्यनीका) बाधा रहित है । (ततः) तब (भक्तिस्फीताम्) भक्ति के द्वारा विस्तृत (मामिकां) मेरी–हमारी (चित्तशय्याम्) मन रूपी पवित्र शय्या पर (अधिवसन्) निवास करने वाले आप (मयिउत्पन्नम्) मुझ में उत्पन्न हुए (क्लेशयूथम्) दुःख समूह को (कथमिव) कैसे (सहेथाः) सहन करोगे, अर्थात् नहीं करोगे ।

भावार्थ –हे नाथ आप संसारी जीवों के अकारण बन्धु हैं और आप की सकल पदार्थ विषयक यह अपूर्व एवं अनन्तशक्ति प्रतिपक्षी कर्मों के प्रतिघात से रहित है, क्योंकि वह कर्म के क्षय से उत्पन्न हुई है । फिर आप चिरकाल तक हमारे पवित्र

जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा,
प्राप्तैवेयं तवनयकथा स्फारपीयूषवापी !
तस्या मध्ये हिमकर हिमव्यूहशीतेनितान्तं,
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥९॥

भव वनमें चिरकाल भ्रम्यो कछु कहिय न जाई ,
तुम थुति कथा पियूष वापिका भागन पाई ।
शशितुषार घनसार हार शीतल नहि जासम,
करत न्हौन तामाहि क्यों न भवताप बुझै मम ॥९॥

टीका—हे देव ! भो स्वामिन् ! मया जन्माटव्यां भवारण्ये दीर्घं भ्रमित्वा कथमपि महताकष्टेन इयमेव तव भगवतः नयकथास्फारपीयूषवापी अनेकान्तमतोदारसुधारसदीर्घिका प्राप्ता लब्धा जन्मैवअटवी जन्माटवी तस्या जन्माटव्या, नयकथैवस्फारपीयूषवापी नयकथास्फारपीयूषवापी तस्यावापिकाया मध्ये नितान्तमतिशयेन निर्मग्नं मां दुःखदावोपतापाः कृच्छ्रदावानलपरितापाः कथं न जहति किं न त्यजति ? अपि तु जहतीत्यर्थः । दुःखान्येव दवाः दुःखदावास्तेषां

मन मन्दिर मे निवास करते हुए भी क्या हमारे दुःखो को नाश नहीं करेंगे अर्थात् अवश्य ही करेंगे । जो भद्र मानव आपका भक्ति पूर्वक निरन्तर ध्यान एवं चिंतन करता है उसके दुःख दूर होना तो सहज ही है किन्तु उसके जटिल कर्मों का बन्धन भी ढीला पड कर नष्ट होजाता है और आत्मा [illegible] ना हुआ परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

उपतापा: । कथभूतावापी· मध्ये हिमकरश्चन्द्रस्तस्य व्यूहः समूहस्तद्वत् शीते शीतले इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(**हे देव !**) हे स्वामिन् ! **मया** मेरे द्वारा (**जन्माटव्यां**) संसार रूपी अटवी में (**दीर्घं**) बहुत काल तक (**भ्रमित्वा**) घूमकर अथवा घूमने के बाद– (**तव**) आपकी (**इयम्**) यह (**नयकथा**) स्याद्वाद नय कथा रूपी (**स्फारपीयूषवापी**) बडी भारी अमृत रस से भरी हुई बावड़ी (**कथमपि**) किसी तरह बड़े कष्ट से (**प्राप्तापव**) प्राप्त ही कर ली गई है । फिर भी, (**हिमकरहिमव्यूहशीते**) चन्द्रमा और बर्फ के समूह से भी शीतल (**तस्याः**) उसके (**मध्ये**) बीचमें (**नितान्तम्**) अत्यन्त रूप से (**निर्मग्नं**) डूबे हुए (**माम्**) मुझको (**दुःखदावोपतापाः**) दुःख रूपी दावानल का सन्ताप (**कथं न जहति**) क्यों नहीं छोड़ता है ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! मुझे इस संसाररूप विषम अटवी में भ्रमण करते हुए और दुखों को सहते हुये अनन्तकाल बीत गया है । अब मुझे बड़े भारी भाग्योदय से यह आपकी स्याद्वादनय रूप अमृतरस से भरी हुई वापिका– बावड़ी प्राप्त हुई है जो चन्द्रमा और बर्फ से भी अत्यन्त शीतल है । ऐसी वापिका में उन्मज्जन करते हुए मेरे क्या थोड़े से दुःख सन्ताप दूर न होंगे ? किन्तु अवश्य ही दूर होंगे ॥६॥

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं,
हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः ॥
सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनोमे,
श्रेयः किं तत् स्वयमहरहर्यन्नमामभ्युपेति ॥७॥

श्री विहार परिवाह होत शुचिरूप सकल जग ।
कमल कनक आभाव सुरभि श्रीवास धरतपग ॥
मेरो मन सर्वंग परस प्रभुको सुख पावै ।
अवसो कौन कल्यान जोन दिन दिन ढिग आवै ॥७॥

सं० टीका—हे भगवन ! ते तव पादन्यासादपि भवच्चरणा-रोपणादपि पद्मः कमलं हे माभासोभवति । हेमवदाभासा यस्य सः च पुनः पद्मः तव पादन्यासात् सुरभिः सुगन्धो भवति । च पुनः पद्मः तव पादन्यासात् श्री निवासः लक्ष्म्या गृह भवति । श्रियाः निवासः श्रीनिवासः, कथंभूतस्य तव यात्रया भव्य प्राणि प्रबोधार्थं विहारः । क्रमेण त्रिलोकीं पुनतः पवित्रयतः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी ता । हेदेव त्वयि परमेश्वरे सर्वाङ्गेण सर्व शरीरेण मे मम अशेष मनोंतःकरणं स्पृशति सति तत्किं श्रेयो वर्तते । यत्श्रेयःकल्याणं हेमाभासादिष्वयमेव

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (**यात्रया**) विहार के द्वारा (**त्रिलोकीम**) तीनों लोकों को (**पुनतः**) पवित्र करने वाले (**ते**) आपके (**पादन्यासादपि**) चरणों के रखने मात्र से ही जब (**पद्म**) कमल (**हेमाभासः**) सुवर्ण सी कान्ति वाला

अहरहः प्रतिदिन मां न अभ्युपैति मां न प्राप्नोति अपितु अभ्युपैति इत्यर्थः ॥ ७॥

(सुरभिः) सुगन्धित (च) और (श्रीनिवास) लक्ष्मी का गृह—शोभा का स्थान हो जाता है। तब (हे भगवन्) हे स्वामिन्! (त्वयि) आपके (मे) मेरे (अशेषम) समस्त (मनः) मन को (सर्वाङ्गेण) सर्वअङ्गों के द्वारा (स्पृशतिसति) स्पर्शकरने पर (तत्) वह (किंश्रेयः?) कौनसा कल्याण है? (यत्) जो (माम) मुझे (अहरहः) प्रति दिन (स्वयं) अपने आप (नअभ्युपैति) प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—सकल परमात्मा अरहत जब जीवन्मुक्तरूप सयोग केवली अवस्था में विहार करते हैं तब उनके विहार से तीनों लोक पवित्र हो जाते है, और देव गण उनके पवित्र चरणों के नीचे कमलों की रचना कर दिया करते हैं और वे कमल जब जिनेन्द्र देव के चरणों के स्पर्श से सुवर्णसी कान्ति वाले सुगन्धित एव लक्ष्मी के निवास बन जाते है। तब मेरा मन आप को सर्वाङ्ग रूप से स्पर्श कर रहा है अर्थात् मेरे मन मंदिर में चेतन्य जिन प्रतिमा का सर्वाङ्ग रूप से स्पर्श हो रहा है। अतएव मुझे कल्याणकों का प्राप्त होना उचित ही है। जो भव्यप्राणी जिनेन्द्र भगवान का निष्कपट रूप से भक्तिपूर्वक स्मरण चिंतन एवं ध्यान करता है उसे सर्व सुख प्राप्त होते ही हैं इस में कोई सन्देह नहीं है ॥७॥

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्र्या पिबन्तं,
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधाम प्रविष्टम् ।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैक भूमिं,
क्रूराकाराः कथमिवरुजा कण्टका निर्लुठन्ति॥८॥

भवतज सुखपद बसे काममदसुभट संहारे ।
जो तुमको निरखंत सदा प्रियदास तिहारे ॥
तुम वचनामृतपान भक्ति अंजुलिसों पीवै ।
तिन्हें भयानक क्रूररोगरिपु कैसे छीवै ॥८॥

स० टीका—भो देव! रुजा कटकाः गदलक्षणा कंटकाः पुरुषं कथमिव निर्लुठन्ति पीडयन्ति । न निर्लुठन्तीत्यर्थः । रुजा एव-

---

अन्वयार्थ—हे नाथ ! (कर्मारण्यात्) कर्मरुपीवन से (असमानन्दधाम प्रविष्टम्) अनुपम सुख के स्थान मोक्ष में प्रविष्ट हुए, तथा (दुर्वारस्मरमदहरं) दुर्जय कामदेव के मदको हरण करने वाले आपको (पश्यन्तम्) देखने वाले और (भक्तिपात्र्या)भक्ति रूपी कटोरोसे (त्वद्वचनममृतम्) आपके बचन रूपी अमृत को पीने वाले अतएव

कटकाः "रुगरुजा चोपजाता ये रोग व्याधिगदामयाः" इति हलायुधः। कथंभूत पुरुषं त्वां परमेश्वरं पश्यन्त विलोकयन्तं। पुनः त्वद्वचनममृत भक्ति पात्र्या पिबन्तं तव वाक्यामृत तव बचन भक्तिरेव पात्री स्थाली भक्ति पात्री तया पुनः कर्मारण्या-दसमानन्दधाम प्रविष्ट। कर्मैव अरण्य वनं कर्मारण्यं तस्मात्। असमं अतुल्य यत् आनन्दधामं हर्षमंदिरं तत्र प्रविष्टस्तं। कथं-भूत? त्वां दुर्धारः यो हि स्मरः कामस्तस्य मदान् हरति तं। कीदृशं पुरुष तवप्रसादास्त्वत्प्रसादः त्वत्प्रसाद एव एका अद्वितीयाः भूमिर्यस्य स तं। कीदृशाः रुजा कण्ठकाः कठिनाः आकारा येषांते ॥ ८ ॥

(त्वत्प्रसादैकभूमिम्) आपकी प्रसन्नता के स्थानभूत पुरुषको **(क्रूराकाराः)** भयंकर आकार वाले **(रुजाकण्टकाः)** रोग रूपी काटे **(कथमिव ?)** किसतरह **(निर्लुठन्ति)** सता सकते है-पीडा द सकते है ? अर्थात् नही दे सकते।

भावार्थ हे भगवन्! कर्म रूपी वन से निकल कर आपने अनुपम अनंत सुखस्वरूप आनन्दधाम को प्राप्त किया है तथा आपदुर्जय कामदेवके मदको हरण करने वाले हैं आपक। देखने वाले और भक्ति रूपी पात्र से आपके अमृत रूपी वचनो को पीने वाले भव्य पुरुषों को फिर क्रूर आकार वाले रोग रूपी काटे कैसे पीडा दे सकते ह ? अर्थात् नही दे सकते ॥८॥

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः ।
दृष्टि प्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ॥६॥

मानथंभ पाषान आन पाषान पटंतर ।
ऐसे और अनेक रतन दीखै जग अंतर ॥
देखत दृष्टि प्रमान मान मद तुरत मिटावै ।
जो तुम निकट न होय शक्ति यह क्योंकर आवै ॥६॥

टीका—मानस्तम्भः पाषाणात्मासन् तदितरसमः अन्य पाषाण सदृशो भवति, तस्मात् पाषाणात् इतरस्तेन समः । च पुनः केवल रत्नमूर्तिः रत्नमयः पर केवल रत्नवर्गः रत्नराशिस्तादृशो वर्तते

अन्वयार्थ–हे देव ! (पाषाणात्मा) पत्थररूप (मानस्तम्भः) मानस्तम्भ (तदित-रसमः) दूसरे पत्थरों के समान ही है (केवलम्) सिर्फ (रत्नमूर्तिः) रत्नमयी है परन्तु (परः रत्न-वर्गः) दूसरे रत्नोंका समूह भी जैसाही है–ऐसा होने पर (यदि) यदि (तस्य) उस मानस्तम्भ की (तच्छक्तिहेतुः) वैसी शक्ति में कारणस्वरूप (भवनः) आपकी (प्रत्यासत्ति.)

स मानस्तम्भः ! दृष्टि प्राप्तः सन् दर्शनमात्रादेव नाराणां लोकानां मानरोग अहङ्काररोग कथं हरति ? केन प्रकारेण निराकरोति ? यदि चेत् तस्य मानस्तम्भस्य भवत परमेश्वरस्य प्रत्यासत्तिः सामीप्य न भवेत् । दृष्टि प्राप्तः दृष्टिप्राप्तः मान एव रोगो मान-रोगस्तं । कीदृशस्य भवतः तस्य मानस्तम्भस्य मानरोगहरणे शक्तिः तस्याहेतुः कारण तस्य ॥ ६ ॥

निकटता न होती तो (सः) वह मानस्तम्भ (दृष्टिप्राप्तः) देखने मात्र से ही (नराणाम्) मनुष्यों के (मानरोगं) मान-अहंकार रूपी रोग को (कथंहरति ?) कैसे हर सकता है ? अर्थात् नहीं हर सकता ।

भावार्थ पत्थरका बना हुआ मानस्तम्भ भी दूसरे साधारण पत्थरोंके समान ही है । रत्नमयी होना उसकी कोई विशेषता नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके समान और भी रत्न होते हैं परन्तु उनमें मान हरण करने की शक्ति नहीं होती, इसकारण से मानस्तभमें मनुष्यो के मान हरण करने की शक्ति का अस्तित्व मालूम नहीं होता । अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी ऐसी शक्ति में आपकी समीपता ही कारण है । यदि आपकी समीपता न होती तो गौतम जैसे महामानी विद्वानों का अभिमान कैसे दूर होता ? इस कारण उस रत्नमयी मानस्तम्भ में यह अपूर्वशक्ति आपके प्रसाद से ही प्राप्त हुई जान पड़ती है ॥ ६ ॥

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्ति शैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधिरुजां धूलिबंधं धुनोति ।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ॥१०

प्रभुतन पर्वतपरस पवन उरमें निवहै है ।
तासों ततछिन सकल रोगरज बाहिर ह्वै है ॥
जाके ध्यानाहूत बसो उर अंबुज माहीं ।
कौन जगत उपकार करन समरथ सो नाहीं ॥१०॥

टीका—हे देव भवन्मूर्तिशैलोपवाही मरुदपि वायुरपि हृद्यः अनुकूलः प्राप्तः सन् पुंसाजनाना सद्यस्तत्कालं निरवधिरुजां धूलिबंधं निर्मर्यादामयरेणुसमूहं धुनोति स्फोटयति । भवतः मूर्ति शरीरं सैव शैलः पर्वतस्तं उपवहतीति निरवधयः मर्यादा-रहिताः या रुजाः रोगास्तएव धूलयस्तासांबन्धः समूहस्तं । तु पुनस्त्वं ध्यानाहूतः सन् यस्य प्राणिनो हृदयकमलं प्रविष्टः तस्य प्राणिनः इह भुवने कःलोकोपकारः अशक्योभवति । अपि

अन्वयार्थ-(हे देव !) हे स्वामिन ! जब (भवन्मूर्ति-शैलोपवाही) आपके शरीर रूपी पर्वतके पास से बहने वाली (हृद्यः) मनोहर (मरुद् अपि) हवा भी (प्राप्तः) [सन्] प्राप्त होती हुई (पुंसां) पुरुषो के (निरवधिरुजां धूलि-बन्धम्) मर्यादारहित रोग रूपी धूली के संसर्गको (सद्यः)

तु न कोपीत्यर्थः ध्यानेन आहूत. आकारितः ध्यानाहूतः। हृदयमेव कमलं हृदय कमलं, लोकानां उपकारःलोकोपकारः ॥१०॥

शीघ्रही धुनोति) दूर कर देती है। (तु) तब (ध्यानाहूतः) ध्यान के द्वारा बुलाये गये (त्वम्) आप (यस्य) जिसके (हृदयकमलं) हृदय रूपी कमल में (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुए हैं (तस्य) उस पुरुष को (इहभुवने) इस संसार में (कः) कौनसा (लोकोपकारः) लोगोंका उपकार (अशक्यः) अशक्य है—नही करने योग्य है। अर्थात् कोई भी नही ॥

भावार्थ—हे नाथ! जबकि आपके शरीर के पाससे बहने वाली वायु भी, लोगों के तरह तरह के रोग दूर कर देती है। तब आप जिस भव्यपुरुष के हृदय मे विराजमान हो जाते हैं वह संसार के प्राणियो का कौनसा उपकार नहीं कर सकता— अर्थात् लोक की सच्ची-सजीव सेवा करना, अथवा आहार पान औषधादि के द्वारा दीन-दुखियो की सेवा कर उन्हें दुःख से उन्मुक्त करना तो सरल है। परन्तु जब कोई भद्रमानव जिनेन्द्र भगवान को अपने हृदयवर्ती बना लेता है अर्थात् चैतन्य जिन प्रतिमा को अपने हृदय कमल में अंकित कर लेता है, और स्तुति, पूजा-ध्यानादि के द्वारा उनके पवित्र गुणों का स्तवन-पूजन वंदनादि किया करता है, एवं उनके नक्शे कदम पर चलकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने लगता है तब उस भव्य पुरुष के अनादिकालीन कर्मबंधन भी उसी तरह शिथिल होने लगते हैं जिस तरह चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने पर सर्पों के बन्धन ढीले पड़ कर नीचे खिसकने लगते हैं ॥१०॥

जानासि त्वं भव भवे यच्च यादृक्च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम्॥११॥

जनम जनम के दुःख सहे सब ते तुम जानो।
याद किये मुझ हिये लगैं आयुध से मानों॥
तुम दयाल जग पाल स्वामि मैं शरण गही है।
जो कुछ करनो होय करो परमान वही है॥११॥

टीका—हे देव! मम भव भवे प्रतिजन्मनि यच्च यादृक् च दुःखं नरकतिर्यक्नरदेवयोः संभवं जातं प्राप्तं। यस्य दुःखस्य स्मरणमपि मे मम शस्त्रवत् खड्गवत् निष्पिनष्टि-चूर्णयति शतखंडी करोति। अत्र हिंसार्थधातुयोगात्, द्वितीयार्थे षष्ठी। तत्वं जानासि-वेत्सि। हे नाथ! त्वं सर्वेषां प्राणिनामीशः

अन्वयार्थ—(**हे देव!**) हे भगवन्! (**माम्**) मुझे (**भवभवे**) प्रत्येक पर्यायमें (**यत् च यादृक् च**) जो और जैसा-जिस तरह का (**दुःखम्**) दुःख कष्ट (**जातम्**) प्राप्त हुआ है [**तत् त्वं जानासि**] उसको आप जानते ही हैं। और (**यस्य**) जिस का [**स्मरणमपि**] स्मरण भी (**मे**) मेरे लिये (**शस्त्रवत्**) शस्त्र के समान-तलवार आदि अस्त्र के घात समान

स्वामी। च पुनः त्व सकृप इति। कि कृपया सहवर्तमानः इति, अगाध मनस्यालोच्य त्वां त्रैलोक्यनाथं भक्त्या कृत्वा अहं उपेतोस्मि प्राप्तोस्मीति अगाधभावः। तत्रस्मात्कारणात् इह तल्लक्षणे विषये यत्कर्तुं योग्य कर्तव्यं देवः त्वमेव प्रमाण निश्चय अन्यथा न॥११।

(**निष्पिनष्टि**) दुःख देता है और हे नाथ ! (**त्वम्**) आप (**सर्वेशः**) सबके स्वामी (**च**) और (**सकृपः**) दया से युक्त हैं-दयालु हैं। (**इति**) इस लिये (**भक्त्या**) भक्ति पूर्वक (**त्वाम् उपेतः अस्मि**) आप के पास आया हूं-आपकी शरणमें प्राप्त हुआ हूँ। अतः अब (**इह विषये**) इस विषय में (**यत्कर्तव्यं**) जो करना चाहिये उसमें (**देव एव प्रमाणम्**) आप ही प्रमाण है।

भावार्थ—हे भगवन ! इस चतुर्गति रूप संसार मे अनादि काल से भ्रमण करते हुए मैंने जो घोर दुःख भोगे हैं और भोग रहा हूं। जिनका स्मरण करना भी शस्त्र के समान दुखदाई है। उनको आप अच्छी तरह से जानते ही हैं। आप सिर्फ जानते ही नही है किन्तु सब के अकारण बन्धु और दयालु हैं। इसी लिये मै भक्ति पूर्वक आप की शरण में आया हूं। ऐसी दशामें मुझे क्या करना चाहिये यह आप ही समझ सकते है। मैने तो अपनी दशा आप के सामने प्रकट करदी है।

प्राप्यदैवं तवनुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपिसौख्यं ।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं,
जल्पन् जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥

मरण समय तुम नाम मंत्र जीवकतैं पायो ।
पापाचारी श्वान प्रान तज अमर कहायो ॥
जोमणि माला लेय जपै तुम नामनिरंतर ।
इन्द्र सम्पदा लहै कौन संशय इस अन्तर ॥१२॥

टीका—भो विभो ! तव परमेश्वरस्य नुतिपदैः स्तोत्रपदैः कृत्वा सारमेयोऽपि कुक्कुरोऽपि दैवं सौख्यं प्राप्त् प्राप्तवान्, देवस्येदं दैवं । कथंभूतैः तव नुतिपदैः । मरण समये–मरणावस्थाया जीवकेन क्षत्रियवंशचूडामणि श्री सत्यधर महाराज पुत्रेण उपदिष्टैः कर्णं जपीकृतैः । कथंभूतः सारमेयः पापाचारी आजन्म पापमेवा चरतीत्येवशील. पापाचारीः । भो देव ! यस्त्वन्नमस्कारचक्रं अमलैः मणिभिः जाप्यैः जल्पन् सन् शुद्धस्फटिकमणिमुक्ता-

---

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब कि **(मरण समये)** मृत्युके समय में **(जीवकेन)** जीवन्धरकुमारके द्वारा-क्षत्रियवंश चूड़ामणि सत्यधर राजा के पुत्र जीवंधर कुमार के द्वारा **(उपदिष्टैः)** बताये गये **(तव)** आपके **(नुतिपदैः)** नमस्कार मंत्र के पदों के स्मरण एव चिंतन से **(पापाचारी)** पापरूप प्रवृत्ति करने

फलरंजतसुवर्णप्रवालचंदनागरुसमभवमणिभिः तव नमस्कारमंत्रं सममभिजल्पन् वासव श्रीप्रभुत्व-सौधर्मादिलक्ष्मी साम्राज्य उपलभते-प्राप्नोति । अत्रकः सदेहः किमाश्चर्यमत्र । तवनमस्कारास्त्वन्नमस्कारास्तेषा चक्र वासवस्यश्रीः लक्ष्मीः तस्याः प्रभुत्वमैश्वर्यम् ॥१२॥

वाला (**सारमेयः अपि**) कुत्ता भी (**दैवं**) देव—स्वर्गलोक सम्बन्धी (**सौख्यम**) सुखको (**प्रापत्**) प्राप्त हुआ है * तब (**अमलैः**) निर्मल (**जाप्यैः**) जपने योग्य माला को (**मणिभिः**) मनकाओं के द्वारा (**त्वन्नमस्कारचक्रम्**) आपके नमस्कार मंत्र को (**जल्पन्**) जपता हुआ मनुष्य (**यत्**) जो (**वासवश्रीप्रभुत्वम्**) इन्द्रकी विभूति के अधिपतित्व को-स्वामी पने को (**लभते**) प्राप्त होता है। इस विषय में (**कःसन्देहः** क्यासन्देह है अर्थात् इस में कोई सन्देह नहीं है।

---

* इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है:— एक बार एक कुत्ते ने ब्राह्मणों की हवन की सामग्री को दूषित कर दिया था, जिससे उन्होंने कुपित हो कर उस कुत्ते को मार डाला, जब वह शास्त्र घात से सिसकता और छट पटा रहा था और अपने जीवन की अन्तिम सास लेरहा था। इतने में क्षत्रिय वश कुलतिलक जीवधर कुमार ने उस कुत्ते को तड़पता हुआ देख कर 'णमोअरहताणं' इत्यादि नच परमेष्ठी-वाचक मत्र पढ़कर सुनाया, जिससे उसके परिणामो मे परम शाति हुई, और वह कुत्ता मर कर इस मत्र के प्रभाव एवं माहात्म्यसे यक्षोंका अधिपति यक्षेन्द्र हुआ।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखा वंचिका कुंचिकेयम् ।
शक्योद्धाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तेद्वारं परिदृढ महा मोह मुद्रा कपाटम् ॥१३॥

जानर निर्मल ज्ञान मान शुचि चारित साधै ।
अनवधि सुखकी सार भक्ति कूंची नहि लाधै ॥
सोशिव वाँछक पुरुप मोक्षपट केम उघारै ।
मोह मुहर दिढ़ करी मोक्ष मदिरके द्वारै ॥१३॥

टीका—भो देव ! शुद्धे ज्ञाने शुचिनि-निरतिचारे-पवित्र चरितेआचरिणे सत्यपि चेद्यदि त्वयि परमेश्वरे इय अनीचा प्रबला भक्तिर्नो नव, हि निश्चित तहि मुक्तिकामस्य पुसः मुमुक्षोः पुरुषस्य मुक्तेः द्वार शक्योद्धाट कथ भवति? शक्यः उद्धाटो

भावार्थ—जब कि एक पापी कुत्ता भी मृत्यु क समय न कि जीवन भर जीवन्धर कुमार द्वारा बताए हुए मत्राऽक्षरों के ध्यान से यक्षोंका स्वामी यक्षेन्द्र हो सकता है तब निर्मल मणियों के द्वारा आपके नमस्कारमत्र का ध्यान करने वाला भद्रमानव यदि इन्द्रकी विभूति को प्राप्त करले तो इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् कुछ नहीं ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—हे नाथ (शुद्धे ज्ञाने) शुद्ध ज्ञान और (शुचिनिचरिते) निर्मल चारित्र के (सत्यपि) रहते हुए भी (चेत्) यदि (त्वयि) आपके विषय में होने वाली (इयम्) यह (अनीचा भक्ति) उत्कृष्ट भक्ति-रूपी (अनवधिसु-

यद्यतत् ! मुक्ति कामयतीति मुक्ति कामः तस्य मुक्ति कामस्य । कथम्भूतं मुक्तेर्द्वारं ? परिदृढा निश्चला महामोहो मिथ्यात्वं तल्लक्षणमुद्रा योर्योस्तौ एव विधौकपाटौ यस्मिन् तत् । कथभूता भक्तिः ? कुंचिका । मुद्रा द्विधाकर्त्री पुनः अनवधि निर्मर्याद यत् सुख तस्य अवचिका-अप्रतारिणी ॥१३॥

-खावंचिका) अमर्यादित सुखो को कारण [कुंचिका] कुञ्जी तालो [न] [स्यात] नही होवे, तो [हि] सच मुच में (मुक्तिकामस्य पुंसः) मोक्ष के अभिलाषी पुरुष को (परदृढमहामोहमुद्राकवाटम्) अत्यन्त मजबूत महा- मोहरूपी मुहर ताले से युक्त हैं किवाड़ जिसमें ऐसे (मुक्ति द्वारम्) मोक्षका द्वार (कथम् ?) किस तरह (शक्योद्घटिम्) खोला जा सकता है ? अर्थात् नहीं खोला जा सकता।

भावार्थ—विशुद्धज्ञान और निर्मल चारित्र के रहते हुए भी यदि जिनेन्द्र की भक्तिमय अथवा सम्यग्दर्शनरूप कुञ्जी नहीं है तो फिर महा मिथ्यात्वरूप मुहर से अंकित मोक्ष का द्वार कैसे खोला जा सकता है ? अर्थात् भक्तिरूपी कुंचिका के बिना मुक्तिद्वारका खुलना नितान्त कठिन है। परन्तु जिस भव्यमानव के पास जिनेन्द्र की भक्तिरूपी अथवा सम्यग्दर्शनरूपी कुञ्जी है वह बहुत जल्दी ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं अतः मुक्ति के इच्छुक पुरुषों को सबसे पहले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरंधकारैः समंता-
त्पंथामुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः ।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देवतत्त्वावभासी,
यद्यग्रे ग्रे न भवति भवद्भारती रत्नदीपः॥१४॥

शिवपुर केरो पंथ पापतमसों अति छायो।
दुखसरूप बहु कूप खाडसों बिकट बतायो॥
स्वामी सुखसों तहाँ कौन जन मारग लागैं।
प्रभु-प्रवचन मणि दीप जोतके आगैं आगैं॥१४॥

टीका—भो देव ! खलु निश्चित अयं मुक्तेः पथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रलक्षणा मोक्षमार्गः अघमयैरंधकारैः मिथ्यात्वलक्षणैस्तिमिरैः समंतात् सर्वत. प्रच्छन्नः आच्छादितः। पुन. मुक्तेः पथा अगाधैः अतुलस्पर्शैः क्लेशगर्तैर्नरकादि दुःखैः कृत्वा स्थपुटितपदः विद्यते। स्थपुटितानि उच्चनीचानि पदानि पादरोपणस्थानानि [illegible]। तत्तस्मात् कारणात् तेन दुस्तरेण

अन्वयार्थ—(हे देव!) हे स्वामिन्! (खलु) निश्चय से (अयम्) यह (मुक्तेः) मोक्षका (पन्थाः) मार्ग (अघमयैः) पापरूपी (अन्धकारैः) अन्धकार के द्वारा (समन्तात्) सब ओर से (प्रच्छन्नः) ढका हुआ है और (अगाधैः) गहरे (क्लेशगर्तैः) दुखरूपी गड्ढों से (स्थपुटितपदः) विषम है-दुष्प्रवेश है। ऐसी अवस्था में (यदि) अगर (तत्त्वा-

मोक्षमार्गेण सुखतः सुखेनैव कः पुमान् व्रजति यातीतिभावः। कुतः यदि चेत् भवद्भारती रत्नदीपः तव दिव्यभाषाः अप्रतिहत-रत्न प्रभादीपः अग्रे अग्रे न भवति। भवतो जिनेन्द्रस्य भारती

वभासी) सचाई का बतलाने वाला अथवा सप्ततत्त्वों के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाला (भवद्भारती रत्नदीपः) आपकी वाणीरूपी दीपक का प्रकाश (अग्रे अग्रे) आगे आगे (न भवति) न होना (तत्) तो (तेन) उस मार्ग से (कः) कौन मनुष्य (सुखतः) सुख पूर्वक (व्रजति) गमन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—हे देव ! मुक्ति का मार्ग मिथ्यात्वरूप अज्ञान अंधकार से व्याप्त है आच्छादित है। और अगाध दुःखरूप गड्ढों से विषम है दुष्प्रवेश है। ऐसा होने पर भी यदि सप्त-तत्त्वों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला-अथवा सप्त तत्त्वों के द्वारा मोक्ष मार्गका निरूपण करने वाला-आपकी पवित्र दिव्य-ध्वनिरूप वाणीरूपी दीपक का प्रकाश आगे आगे नहीं होता, तो ऐसा कौन पुरुष है जो आपकी वाणीरूपी दीपक के प्रकाश के बिना ही उस कंटकाकीर्ण विषम मार्ग से सुखपूर्वक गमन कर सकता ? और अपने इष्टस्थान को सुगमता से प्राप्त करने में समर्थ हो सकता। अर्थात् कोई नहीं। अस्तु, हे नाथ ! आपकी पवित्र वाणीरूपी दीपक के प्रकाश से ही संसारी जीव हेयोपा-देयरूप तत्त्वोंका परिज्ञान करते हैं और उसी के अनुकूल आचरण कर कर्म बन्धन से छूटने का उपाय करते हैं। अर्थात् मोक्ष के साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करते हैं उन्हें अपने जीवन में उतारते हैं साथ ही, रत्नत्रय की पूर्णता एव परम प्रकर्षता से ज्ञानावरणादि अष्ट-

भवद्भारतो सैव रत्नदीपः भवद्भारती रत्नदीपः। कथम्भूतः भवद्भारतीरत्नदीपः? तत्त्वैः सप्ततत्त्वैः अवभासतेऽसौ तत्त्वावभासी ॥१४॥

आत्मज्योर्निधिरनवधि र्द्रष्टुरानन्दहेतुः।
कर्मक्षोणी पटल पिहितो यो न वाप्यः परेषां॥
हस्ते कुर्वत्यनति चिरतस्तं भवद्भक्ति भाजः।
स्तोत्रैर्बंध प्रकृति पुरुषो दाम धात्री खनित्रैः॥१५॥

कर्म पटल भूमाँहि दबी आतमनिधि भारी।
देखत अति सुखहोय विमुखजन नाँहि उघारी॥
तुम सेवक तत्काल ताहि निहचै कर धारै।
थुति कुदालसों खोद बंदभू कठिन विदारै॥१५॥

टीका—हे देव! यः आत्मज्योतिर्निधिः अनवधिर्वर्तते। आत्मज्योतिरेवनिधिः आत्मज्योतिर्निधिः। न विद्यते अवधिः मर्यादा यस्य सः लोकालोक व्यापक इत्यर्थः। कीदृशः आत्मज्योतिर्निधिः? द्रष्टुः पुरुषस्य आनन्दहेतुः पश्यतीति द्रष्टा तस्य द्रष्टुः, आनन्दस्यहेतुः कारणं। पुनः कर्माण्येव क्षोणी पटलानि कर्मक्षोणि पटलानि तैः पिहितः आच्छादितः। पुनः

कर्मों का समूल नाशकर कृत कृत्य अवस्था को प्राप्त करते हैं और अनंत काल तक उस आत्मोत्थ अव्याबाध निराकुल सुख का अनुभव करते रहते हैं। यह सब वीतराग भगवान की उस दिव्यवाणी का ही माहात्म्य एव प्रभाव है।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र! (आत्मज्योतिर्निधिः) यह आत्मज्ञानरूप सम्पत्ति (कर्मक्षोणीपटल पिहितः) ज्ञाना-

परेषां प्राणिनां अनवाप्यः-अवाप्यते ऽसौ अवाप्यः न अवाप्यः अनवाप्यः। भो देव ! भवद्भक्तिभाजः पुमांसः तं आत्मज्योतिर्निधि स्तोत्रैः कृत्वा अनति चिरतः स्वल्पकाले नैवहस्ते कुर्वन्ति भवतः परमेश्वरस्य भक्ति भजते तेकथम्भूतैः स्तोत्रैः ? बंध प्रकृतयः प्रकृत्यस्थित्यनुभागप्रदेश बंधप्रकृतयः-एव पुरुषाः कठिनाः उद्दामाः उत्कटाः या धरित्र्यः खनित्राणि कुद्दालानि तैः स्तोत्रैर्बंधप्रकृतिपुरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः १५ ॥

वरणादि अष्टकर्मरूप पटलो से आच्छादित है ढकी हुई है और (यः द्रष्टुः आनन्दहेतुः) जो ज्ञानी पुरुष को आनन्द का कारण है इसलिये (परेषां अनवाप्यः) मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्त है उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु (भवद्भक्ति-भाजः) आपकी भक्ति करनेवाले भव्य पुरुष (तं) उस आत्म-ज्ञानरूप सम्पत्ति को (बंध-प्रकृतिपुरुषोद्दामधात्री खनित्रैः स्तोत्रैः) प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबंधरूप अत्यन्त कठोर भूमि को खोदने के लिये कुदालो स्वरूप आपके स्तवनों के द्वारा (अनतिचिरतः) शीघ्र ही (हस्तेकुर्वन्ति) अपने हाथ में कर लेते हं उसे प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए धन को कुदाल से कठोर भूमि को खोद कर निकाल लेते है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ज्ञानावर्णादि अष्ट कर्मरूप पुद्गल पिण्डों से आच्छादित अपनी ज्ञानादिरूप आत्मसम्पदा को आपके पवित्र स्तवनरूप कुदाल से कर्मबंधनरूप अतिशय कठोर भूमि को खोद कर निकाल लेते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियों को वह नहीं प्राप्त होती ॥ १५ ॥

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे-
र्यादेव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्ति गंगा ।
चेतस्तस्यां ममरुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः ।
कल्माषं यद्भवति किमयं देव संदेह भूमिः ॥१६॥

स्याद्वाद गिरि उपज मोक्ष सागर लों धाई ।
तुम चरणाम्बुज परस भक्ति गंगा सुखदाई ॥
मोचित निर्मल थयो न्होन रुचि पूरब तामैं ।
सो वह हो न मलीन कौन जिन संशय यामैं ॥१६॥

टीका—हे देव ! या प्रसिद्धात्तत्कि गंगा भवद्भक्ति स्वधुनी नयहिमगिरेः स्याद्वादनय पर्वतात् प्रत्युत्पन्ना ऽस्ति । नय एव हिमगिरिः हिमाचलस्तस्मात् भक्तिरेव गगा भक्तिगंगा । कथम्भूताया गगा । च पुनः अमृताब्धे मोक्ष सागरस्य आयता मिलिता । च पुनः या गंगा त्वत्पदकमलयोः तवचरणकमलयोः

अन्वयार्थ—(देहे व !) हे नाथ ! (नयहिमगिरेः) स्याद्वादनयरूप हिमालय पर्वत से (प्रत्युत्पन्ना) उत्पन्न हुई (च) और (अमृताब्धेः) मोक्षरूपी समुद्र तक (आयता) लम्बी (या) जो यह (त्वत्पदकमलयोः) आपके चरण कमल सम्बन्धी (भक्तिगंगा) भक्तिरूपी गगानदी (सङ्गता) प्राप्त हुई है (तस्यां) उसमें (रुचिवशात्) प्रेमके वश

संगिता आश्रिता । तवपदकमले त्वत्पदकमले तयोः । तस्यां गंगायां ममचेतो ममान्तःकरणं रुचिवशात् स्नेह योगात् आप्लुतं स्नातमित्यर्थः । यदन्तः करणं क्षालितांहः कल्माषं भवति । इयं किं सन्देह भूमिः सन्देह स्थानं ? क्षालित अंहः कल्माषं पापरजो यस्य तत् संदेहभूमिः ॥१६॥

(**आप्लुतम्**) डूबा हुआ (**मम**) मेरा-हमारा (**चेतः**) मन (**यत्**) जो (**क्षालितांहः कल्माषं**) जिसकी पापरूपी कालिमा धुल गई है ऐसा-पापरूपी रज से (**भवति**) हो जाता है। (**देव !**) हे नाथ (**इयम्**) यह (**किम्**) क्या कोई (**सन्देह-भूमिः**) सन्देह का स्थान है ? अर्थात् नहीं है ।

भावार्थ—हे नाथ ! स्याद्वादनयरूप हिमाचल से निकली और मोक्षरूपी समुद्र तक लम्बी यह आपकी भक्तिरूपी गंगा मुझे बड़े भारी भाग्योदय से प्राप्त हुई है सो गंगा में स्नान करने से जिस तरह शरीर का बाह्य मैल धुल जाता है और वह स्वच्छ हो जाता है । उसी प्रकार आपकी भक्तिरूपी गंगा में स्नान करने से-उसमें गोता लगाने से-यदि मेरे अन्तःकरण की पापरूप कालिमा धुल कर मेरा मन पवित्र-राग-द्वेषादि विभाव-भावोंसे रहित निर्विकार हो जाय, तो इसमें क्या सन्देह है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं त्वामनुध्यायतो मे।,
त्वय्येवाहं स इति मति रुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपितनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवंति १७

तुम शिवसुखमय प्रगट करत प्रभुचिंतन तेरा।
मैं भगवान समान भाव यों वरतै मेरा॥
यदपि झूठ है तदपि तृप्ति निश्चल उपजावै।
तुम प्रसाद सकलंक जीव वाँछित फल पावै॥१७॥

टीका—भो देव! प्रादुर्भूत प्रकटीभूतं स्थिरपदसुख मोक्षपदस्य सुखं यस्य स तस्यामन्त्रणे हे प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख! मे मम-त्वयि विषये। स अहमेव इतिमतिः उत्पद्यते। कथम्भूतस्य मे? त्वामनुध्यायतः अनुध्यायतीति अनुध्यायन् तस्य। कीदृशामतिः?

अन्वयार्थ—(हे **प्रादुर्भूतस्थिरपदसुखं** !) प्रकट हुआ है मोक्ष का निश्चलसुख जिनको ऐसे हे वीतरागदेव! (**त्वामनुध्यायतः मे**) आपका बार बार ध्यान करते हुए मेरे-हमारे-हृदय में (**त्वयि**) आपमे अथवा आपके विषय में (**अहं सः एव**) जो आप है वही मैं हूं (**इति**) ऐसी जो (**निर्विकल्पा**) विकल्प रहित (**मतिः**) बुद्धि (**उत्पद्यते**)

निर्विकल्पा निःसन्देह इत्यर्थः। विकल्पा निष्क्रान्तानिर्विकल्पा। तदपिचेत् इय मतिः अभ्रेषरूपां तृप्ति निश्चलरूपां तृप्तिं मिथ्यैव तनुते विस्तारयते। दोषात्मानो ऽपि पुमासः त्वत्प्रसादात् तव-प्रसादतः अभिमतफलः भवन्ति। अभिमत फलं येषां ते ॥१७॥

उत्पन्न होती है यद्यपि (इयम् मिथ्या एव) यह बुद्धि असत्य ही है (तदपि) तो भी (अभ्रेषरूपांतृप्ति) निश्चल अविनाशी सन्तोष की-सुख को-(तनुते) विस्तृत करती है। सच है (त्वत्प्रसादात्) आपके प्रसाद से (दोषात्मानः अपि) सदोषी पुरुष भी (अभिमतफलाः भवन्ति) अभिमत फल को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् जिनका आत्मा सदोषी है पापकर्म-रूप कालिमा से लिप्त हैं ऐसे मानव भी आपके प्रसाद से अभिमत फल प्राप्त करते ही है।

भावार्थ— हे नाथ! आपके पवित्र ज्ञानादि अनत गुणों का ध्यान एवं चिंतन करते करते जो परमात्मा है सो मैं हू और जो मैं हू, सो परमात्मा है जब ऐसी निर्विकल्पात्मक अभेद बुद्धि उतपन्न हो जाती है सो यद्यपि यह मिथ्या है तो भी निश्चल आनन्द को प्रकट करती है। बहुत कहने से क्या-सदोषी-पतितात्मा पुरुष भी आपके सामीप्य एवं प्रसाद से अभिमतफल को प्राप्त करते ही है ॥१७॥

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभंगीतरङ्गै-
वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव पर्येति यस्ते।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिरममृता सेवया तृप्नुवन्ति॥१८॥

वचन जलधि तुम देव सकल त्रिभुवन में व्यापै।
भंग तरंगिनि विकथ वाद मल मलिन उथापै॥
मन सुमेरु सों मथै ताहि जे सम्यग्ज्ञानी।
परमामृत सों तृपित होंहि ते चिरलों प्रानी॥१८॥

टीका हे देव! यः ते तव वागम्भोधिः भवद्दिव्यध्वनिसागरः अखिल भुवनं पर्येति- व्याप्नोति। वाक् एव अम्भोधिः वागम्भोधिः। कीदृश. वागम्भोधिः? सप्तभगीतरङ्गैः कृत्वा मिथ्यावादं मलं अपनुदत् स्फोटयन्। सप्तभग एव तरगाः सप्तभगीतरङ्गाः तैः, सप्तभगीतरङ्गैः। विबुधा, विबुधजनाः

अन्वयार्थ—हे स्वामिन्! (सप्तभंगीतरङ्गैः) स्यादस्ति-स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सप्तभगरूपलहरों के द्वारा (मिथ्यावादं-मलं) सर्वथा एकान्त कदाग्रहरूपमिथ्यात्वमलको-अथवा शरीरादि परवस्तुमें आत्मत्वबुद्धि रूप विपरीताभिनिवेशके सद्भावसे होने वाले अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यामलको-(अपनुदन्) दूर करने वाला (ते) आपका (यः) जो (वागम्भोधिः) वचनरूपी समुद्र है सो (अखिलं भुवनं) समस्त संसार को (पर्येति) घेरे हुए

सपदि शीघ्रं चेतसा एव अचलेन मनः एव पर्वतेनकृत्वा तस्य वागम्भोधेः आवृत्ति मथन व्यातन्वन्तः सन्तः सुचिर चिरकाल अमृतसेवया तृप्नुवन्ति। अमृत पीयूषं पक्षे मोक्षस्तत् आसेवया ॥१८॥

है—समस्त संसार में व्याप्त है *।

भावार्थ—हे नाथ? सप्तभंगरूपतरंगों से अथवा अनेकान्त के माहात्म्य से-शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मत्व बुद्धि रूपी जीव के विपरीताभिनिवेश को दूरकरने वाले आपके वचन समुद्र का जो भव्य प्राणी निरतर अभ्यास मनन एव परिशीलन करता है अर्थात् आगमोक्त विधि से अभ्यास कर चित्त की निश्चलता रूप परम समाधि को प्राप्त करता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है और अनन्त काल तक वहां सुख में मग्न रहता है। यह सब आप के वचन समुद्रका ही माहात्म्य है॥१८॥

* इस श्लोक में "आवृत्तिम; विबुधा. अचलेन और अमृतसेवया" ये पद श्लिष्ट और द्वयर्थक है-दो अर्थ वाले हैं—इस लिये इस श्लोक के नीचे के दो चरणों का अन्वयार्थ इस प्रकार किया जा सकता है—(चेतसा एव अचलेन) मनरूपी पर्वत मन्दिर गिरिके द्वारा (तस्य) उस वचन रूपी समुद्र का (आवृत्तिम्) मन्थन (व्यातन्वन्त:) करने वाले (विबुधा:) देवगण (सपदि) शीघ्र ही (अमृतसेवया) अमृत के सेवन से (सुचिरं) चिरकाल तक (तृप्नुवन्ति) सतुष्ट हो जाते हैं। भावार्थ–कवि सम्प्रदाय में ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार देवों ने मिल कर मेरु पर्वत के द्वारा समुद्र को मंथन किया था, जिससे उसमें अन्य वस्तुओंके साथ अमृत भी निकाला गया था, देव गए उसी अमृत को पीकर अमर हुए है।

आहार्य्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः।
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः।
सर्वांगेषु त्वमसि शुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसमैःकिंच शस्त्रैरुदस्त्रैः॥१६॥

जो कुदेव छवि हीन वसन भूषण अभिलाखैं।
बैरी सों भयभीत होय सो आयुध राखैं॥
तुम सुन्दर सर्वंग शत्रु समरथ नहिं कोई।
भूषण वसन गदादि ग्रहण काहे को होई॥१६॥

टीका—भो देव! यः कश्चित् परोदेवः स्वभावात् निसर्गेण अहृद्यः अमनोज्ञः कुरूपः स आहार्य्येभ्यः शृंगारेभ्यः स्पृहयति वांछति नान्य.,च पुनः भो देव! यः कश्चित् वैरिणां शक्यो भवति स पुमान् सतत निरंतर शस्त्रग्राही भवति। शस्त्राणि गृह्णतीति शस्त्रग्राही। नान्यः। हे देव! त्व सर्वांगेण शुभगः असि। सर्वशरीरेण सुन्दरोऽसि। पुनः त्वं वैरिणां शक्योपि न। परेषा बाह्यांतर

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (यः) जो (स्वभावात्) स्वभाव से (अहृद्यः) [स्यात्] अमनोज्ञ-कुरूप होता है (स एव) वह ही (आहार्य्येभ्यः) वस्त्राभूषणादि के द्वारा शरीर को अलंकृत करने की (स्पहयति) इच्छा करता है। (च) और (यः) जो (वैरिणा) शत्रु के द्वारा [शक्यः] जीतने योग्य होता है वही [शस्त्रग्राही भवति] शस्त्रों को ग्रहण करने वाला होता है—उसे ही त्रिसूल-गदा-भाला-बरछी

वैरिणां कदापि जेतुं न शक्यः । तत्र तस्मात् कारणात् स्वभाव-सौन्दर्यालंकृतस्य तव भूषा वसन कुसमैः किं प्रयोजन ? श्रृंगार पट्टकूलमाल्यादिभिः किंनिमित्त? भूषाश्च वसनानि च कुसमानि च तैः भूषावसनकुसमैः । च पुनः निर्वैरिण-स्तव उदस्त्रैः शस्त्रैः किंप्रयोजनं ? अपि तु न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । ॥१९॥

तलवार आदि अस्त्रों की आवश्यकता होती है—किन्तु हे भगवान् ! [त्वम्] आप [सर्वाङ्गेषु सुभगः असि] सर्वांग रूप से सुन्दर हो, और [त्वं परेषां न शक्यः] तुम्हें शत्रु भी नहीं जीत सकता [तत्] इस कारण [तव] आपको [भूषा-वसन कुसुमैः] आभूषण वस्त्र और फूलों से—विविध आभूषणों-सुन्दर वस्त्रों-और मनोग्य सुगन्धित पुष्पों से [च] और [उदस्त्रैः अस्त्रैः] पैने-तीक्ष्ण धार वाले नुकीले हथियारों से [किं] क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

भावार्थ—आचार्य वादिराज ने इस श्लोक में सच्चे देवका यथार्थ स्वरूप दिखलाते हुए जिनेन्द्र देव की अन्य हरिहरादिक देवों से सर्वोत्कृष्टता प्रकट की है-उन्हें ही निर्दोष और वास्तविक देव बताया है, क्योंकि संसार में बहुत से जीव अपनी अज्ञता वश देवत्व विहीन पुरुषों में भी देवकी कल्पना कर लेते हैं ।जिन-का चित्त राग-द्वेष से मलिन है दूषित है–जो स्वभाव से ही कांतिहीन एवं अमनोज्ञ हैं । और अनेक प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित है– अथवा बहुमूल्य वस्त्राभूषण और स्त्री गदा आदि

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते,
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यता मातनोति।
त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं,
त्वं लोकानां प्रभुरिति तवश्लाघ्यतेस्तोत्रमित्थम् २०

सुरपति सेवा करै कहा प्रभु प्रभुता तेरी।
सो सलाघनाल है मिटै जगसौं जग फेरी॥
तुम भवजलधि जिहाज तोहि शिवकंत उचरिये।
तुहीं जगत जन पाल नाथ थुति की थुति करिये॥२०॥

टीका—भो देव! इन्द्रः तव भगवतः सेवां सुकुरुतां तया सेवया ते तव किं श्लाघनं प्रशंसनं अपितु न। तस्येन्द्रस्य इय

अस्त्रों (हथियारों) से जिनकी पहिचान होती है। जो नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से शरीर को अलङ्कृत करने की इच्छा करते हैं। जिन्हें शत्रुओं से सदा भय बना रहता है अतएव गदा त्रिशूल आदि अस्त्रोंको धारण किए हुए हैं, जैन धर्म ऐसे भेषी रागी द्वेषी पुरुषों को देव नहीं कहता, और न उन में देवत्व का वास्तविक लक्षण ही घटित होता है। परन्तु जिनेन्द्र भगवान स्वभाव से ही मनोज्ञ हैं- कान्तिवान् हैं। अतः वे कृत्रिम वस्त्राभूषणों से शरीर को अलङ्कृत नहीं करते हैं- उन्होंने देह भोगों का खुशी २ त्याग किया है और मोह शत्रु पर विजय प्राप्त की है। इसके सिवाय, उन्हें किसी शत्रु आदि का कोई भय नहीं है, और न

मेव सेवा श्लाघ्यतां प्रशसतां आतनोति-विस्तरयति । कथंभूतेय [सेवा]? भवलयकरी भव ससारस्तस्यलयो नाशःस्तं करोति। भो देव ! इतिकारणात् तव स्तोत्रम् इत्थ श्लाघ्यते । इतीति कि

संसार में उनका कोई शत्रु मित्र ही है, वे सब को समान दृष्टि से देखते हैं, चाहे पूजक और निंदक कोई भी क्यों न हो, किसी से भी उनका राग द्वेष नहीं है। उनके आत्म तेज या तपश्चरण विशेष की सामर्थ्य से कट्टर वैरी भी अपने वैर-विरोध को छोड़ कर शांत हो जाते हैं। अतः ऐसे पूर्ण अहिंसक, परम वीतराग, और क्षीणमोही परमात्मा को सुन्दर वस्त्राभूषणों और अस्त्र शस्त्रों से क्या प्रयोजन हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! [इन्द्रः] इन्द्र देवराज [तव] तुम्हारी-आपकी [सेवाम्] पूजा-स्तुति वदना आदि सेवा को [सुकुरुताम्] अच्छी तरह से करें, परन्तु (तया) उसके द्वारा (ते) आपकी (किंश्लाघनं) क्या प्रशसा है? किन्तु (भवलयकरी) संसार का ससार परिभ्रमण का-नाश करने वाली (इयम्) यह सेवा तो (तस्य एव) उसी इन्द्र की ही (श्लाघ्यताम्) प्रशसा को (आतनोति) विस्तृत करती है-बढ़ाती है। किन्तु (त्वं) आप (जनन जलधेः) संसार समुद्र से (निस्तारी) तरने और तारने वाले हैं, तथा (त्वं) आप

यतः कारणात् त्वं जनन जलधेः संसारसमुद्रात् निस्तारी वर्तसे च पुनः त्व सिद्धिकान्तापतिः, त्व लोकाना प्रभुः, जननमेवजलधिः तस्मात्, सिद्धिकतायाः पतिः सिद्धिकान्तापतिः ॥२०॥

(सिद्धिकान्ता पतिः) मुक्ति रूपी स्त्री के स्वामी हैं और (त्वं) आप (लोकनां प्रभुः) संसार के समस्त प्राणियो के अधिपति है (इत्थम्) इस तरह से (तव) आप का यह (स्तोत्रम्) स्तोत्र-स्तवन (श्लाध्यते) प्रशसित किया जा सकता है ।

भावार्थ—हे नाथ ! इन्द्र आपकी सेवा, वदना, पूजा, स्तुति आदि करता है, केवल इसीसे आपकी कोई महत्ता और प्रशसा नही हो सकती है क्योकि इन्द्र तो आपकी समीचीन भक्ति एव स्तुति, पूजादि से महान् पुण्य का सचय करता है, क्योंकि वह भक्ति उस के लिये सत्रलय करी ससार का नाश करने वाली होती है। इसी से वह एक भवातारी हो जाता है अर्थात् मनुष्य का एक भव धारण कर के ही मोक्ष चला जाता है । परन्तु आप ससार समुद्र मे स्वय तरने और तारने वाले है और मुक्ति रूप लक्ष्मी के अधिपति है तथा ससार के समस्त जीवों के अकारण बन्धु है—उन्हे ससार के दुःखोंमे छुटाने वाले है और हेयोपादेय रूप तत्वो का परिज्ञान कराते है इसलिये आप उनके प्रभु है, आपने जिस उच्च आदर्श को प्राप्त किया है वही ससारी जीवो के द्वारा प्राप्त करने योग्य है इन्हीं सब कारणों से आपकी महत्ता एव प्रभुता ससार मे प्रकट होती है ॥२०॥

वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येनतुल्य-
स्त्युद्गाराः कथमिव ततः त्वय्यमी नः क्रमन्ते।
मैवं भूवंस्तदपि भगवन् भक्तिपीयूषपुष्टा-
स्तेभव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति॥२१

वचन जाल जड़रूप आप चिन्मूरति झांई।
तातैं थुति आलाप नाहि पहुचे तुम तांई॥
तो भी निष्फल नाँहि भक्तिरस भीने वायक।
संतन को सुरतरु समान वांछित वर दायक॥२१॥

टीका—भो भगवन्! वाचावृत्तिर्वाग्विलासः अपर सदृशो त्वम् अनुपमानः। अपरेणसदृशी अपरसदृशी, त्व देवः अन्येन न तुल्योऽसि, अनुपमोसि। ततस्तस्मात्कारणात् नोऽस्माक अमी-

---

अन्वयार्थ—(**भगवन्!**) हे स्वामिन्! (**वाचांवृत्तिः**) हमारे वचनोंकी प्रवृत्ति (**अपरसदृशी**) दूसरे अल्पज्ञ मनुष्यों के समान है—जैसे अन्य अल्पज्ञमनुष्यों को वाणी होती है वैसी ही हमारी भी है, परन्तु (**त्वं**) आप (**अन्येन न-तुल्यः**) दूसरे पुरुषों के समान नहीं हो,-इसी लिये आप की तुलना अन्य संसारी अल्पज्ञ प्राणियों के साथ नहीं की जा सकती, क्योंकि आप अनुपम है। (**ततः**) इस लिये (**नः**) हमारे अभी (**स्तुत्युद्गाराः**) ये स्तुति रूपी उद्गार (**त्वयि**) आप तक (**कथमिव**) किस तरह (**क्रमन्ते**) पहुँच सकते हैं—प्राप्त हो

स्तुत्युद्गाराः त्वयि विषये कथमिव क्रमन्ते। अस्माकं स्तुतिविलासा कथमिव तुभ्यं रोचंते। एव यद्यपि वर्तते, तदपि एव मा अभूवन्। ते भक्तिपीयूषपुष्टाः स्तुत्युद्गाराः भव्यानां अभिमत-फलाः पारिजाताः मनोऽभीष्टफलाः कल्पवृक्षाः भवन्ति। भक्तिरेव पीयूषं भक्ति पीयूषं तेन पुष्टाः अभिमत फलं येषां ते ॥१२॥

सकते हैं—अथवा (एवं मा अभूवन्) ऐसे मत हो—अर्थात् हमारे वचन आप तक न भी पहुंचे (तदपि, तो भी (भक्ति-पीयूषपुष्टाः) भक्तिरूपी अमृतसे परिपुष्ट हुए (ते वे स्तुतिरूप उद्गगार (भव्यानाम्, भव्यजीवोंके लिये (अभिमतफलाः) इच्छितफल के देने वाले (पारिजाताः) कल्पवृक्ष भवन्ति होते है।

भावार्थ—हे नाथ हमारे वचनोंकी प्रवृत्ति अन्य अल्पज्ञ जीवों के समान ही है। परन्तु आप राग-द्वेषादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर चुके हैं अतः आपकी तुलना अन्य अल्पज्ञ संसारी जीवों से नहीं की जासकती है क्योंकि आप सच्चिदानन्द, परमब्रह्म परमात्मा हैं। यद्यपि हमारे स्तुति रूपी उद्गार आपके समीप तक नहीं पहुँचते हैं, तोभी आप को समीचीन भक्ति-रूपअमृतसे पुष्ट हुए ये स्तुतिरूप उद्गार भव्य जीवोंके लिये कल्पवृक्षके समान इच्छित फलके देने वाले होते हैं। ॥२१॥

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम् ।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधिर्वैरहारी,
क्वैवंभूतं भुवनतिलकं प्राभवं त्वत्परेषु ॥२२॥

कोप कभी नहीं करो प्रीति कबहूं नहि धारो ।
अति उदास बेचाह चित्त जिनराज तिहारो ॥
तदपि जान जग वहै वैर तुम निकट न लहिये ।
यह प्रभुता जगतिलक कहां तुम बिन सरदहिये ॥

टीका—हे देव ! तव परमेश्वरस्य क्वापि कोपावेशो न, क्रोध प्रवेशो न वर्तते । कोपस्य आवेशः कोपावेशः । भो देव ! क्वापि प्रसादो न, प्रसन्नतापि न । हि निश्चितं तव चेतः परमोपेक्षया एव व्याप्तं । परमा चासौ उपेक्षाबुद्धिश्च परमोपे-

---

अन्वयार्थ—हे (देव !) हे नाथ ! (तव) आपका (क्वापि) किसी पर भी (कोपावेशः) क्रोध भाव (न) [अस्ति] नहीं है और न तव) न आपकी (क्वापि) किसी पर प्रसन्नता है (हि) निश्चय से (अनपेक्षम्) स्वार्थ रहित (तव) आपका (चेतः) मन (परमोपेक्षया एव) अत्यन्त उदासीनता से (व्याप्तम्) व्याप्त है (तदपि) फिर भी (भुवनं) संसार (आज्ञावश्यं) आपकी आज्ञा के आधीन है, और

क्षा तथा परमोपेक्षया। इत्थम्भूतं चेतः ? न विद्यते अपेक्षा वांछा यस्य तत्। एवं यद्यप्यस्ति तदपि भुवनं आज्ञावश्यं विद्यते। आज्ञयैव वश्यं आज्ञावश्यं। यद्यपि तव क्वापि प्रसादो न, तदपि तव सन्निधिर्वैरहारी वर्तते। भो भुवनतिलक! एवम्भूतं प्राभवं त्वत्परेषु हरिहरादिषु देवेषु प्राभव प्रभुत्वं क्वास्ति ? न क्वाप्यस्तीत्यर्थः। भुवनस्य तिलकः भुवनतिलकस्तस्यामंत्रणे भुवन- हे तिलक! त्वत्तः परे त्वत्परे तेषु त्वत्परेषु ॥२२॥

आपकी (**सन्निधिः** समीपता निकटता (**वैरहारी**) परस्पर के वैर-विरोध को हरने वाली है। और इस तरह (**भुवनतिलक!**) तीनोंलोकोमें श्रेष्ठ हे देव! (**एवम्भूतं**) ऐसा (**प्राभवं**) प्रभाव (**त्वत्**) आपसे (**परेषु**) भिन्न-दूसरे हरि-हरादिक देवों में (**कभवेत्?**) कहां हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ—हे नाथ! आपका न किसी से राग है और न द्वेष, आप न किसी पर प्रसन्न ही होते है और न किसी को अपने क्रोधका भाजन ही बनाते हैं; क्योंकि आप परम वीतरागी हैं, राग-द्वेषादि के अभावरूप परम उपेक्षाभाव को अंगीकार किये हुए हैं! परन्तु फिरभी, आपकी आज्ञा त्रैलोक्यवर्ती जीवों के द्वारा मान्य है तथा आपकी समीपता वैर-विरोध का नाश करने वाली है। साथ ही, आपकी प्रशांत मुद्रा मुमुक्षु जीवों के लिये साक्षात् मोक्षमार्ग को प्रकट करती है-उसके ध्यान एवं चितनसे भव्यात्मा आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान करते हैं। और उसी तरह चैतन्य जिनप्रतिमा बनने का अभ्यास करते हैं, अतएव जैसा प्रभाव आपका है वैसा

देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामंडलीगीतकीर्ति,
तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्ति जनो यः।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पंथा-
स्तत्त्वग्रंथस्मरणविषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः॥२३॥

सुरतिय गावैं सुयश सर्वगति ज्ञानस्वरूपी।
जो तुमको थिर होंहि नमैं भवि आनन्द रूपी॥
ताहि क्षेमपुर चलन वाट बाकी नहिं हो है।
श्रुत के सुमरनमांहि सो न कबहूं नर मोहै॥२३

टीका—भो देव! यो जन त्वां परमेश्वरं स्तोतुं तोतूर्ति त्वरितो भवति कथम्भूतं त्वां? त्रिदिव गणिकामंडलीगीत-कीर्तिः त्रिदिवस्य स्वर्गस्य गणिका अप्सरसोऽनीकिन्यो वा तासां मंडली तया गीता कीर्तिर्यस्य स तं। कथम्भूतं यः? सकल विषयज्ञानमूर्ति सकलविषयं लोकाऽलोकाकाशविषयं यत्

अन्य हरिहरादिक देवों का कहां हो सकता है? क्योंकि वे रागी द्वेषी हैं-अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करते हैं और निंदकों पर रुष्ट होते हैं-उन्हें शाप दे देते हैं। परन्तु हे देव! ये सब बातें आप में नहीं हैं-पूजक और निन्दकों पर आपका समानभाव रहता है क्योंकि आप जिन हैं, इन सब विकारों को जीत चुके हैं। अतः आप जैसा प्रभाव अन्य किसी भी देवी देवता का नहीं हो सकता है॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे देव! (यः जनः) जो मनुष्य

(त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्तिम्) देवाङ्गनाओं

ज्ञानं तस्य मूर्तिः। तस्य पुरुषस्य जातु कदाचित् पंथाः मोक्ष-मार्गः न जोहूर्ति न कुटिलो भवति। कथम्भूतस्य तस्य? क्षेम-पद् मोक्षस्थानं अटतः व्रजतः। एषः मर्त्यः तत्त्वग्रन्थस्मरण-विषये न मोमूर्ति न संदेहं प्राप्नोति। तत्त्वग्रन्थस्य स्मरणं तस्य विषयस्तस्मिन् ॥२३॥

के समूह द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी ऐसे तथा (**सकल-विषयज्ञानमूर्तिम्**) समस्त पदार्थों के विषय करने वाले ज्ञानस्वरूप (**त्वां**) आपको (**स्तोतुम्**) स्तवन करने के लिये (**तोतूर्ति:**) शीघ्रता करता है (**क्षेमम् पदम्** कल्याण-कारी स्थान अर्थात् मोक्षको (**अटत:**) जाते हुए (**तस्य**) उस मनुष्य का (**पन्था:**) मार्ग (**जातु**) कभी भी (**न जोहूर्ति**) टेढ़ा नहीं होता और (**न एष: मर्त्य:**) न यह मनुष्य (**तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये**) तत्त्वग्रन्थों के स्मरण के विषय में (**मोमूर्ति**) मूर्छित होता है-मोहको प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो भद्रमानव आपकी समीचीन भक्ति करता है और आपके पवित्र अनन्तज्ञानादि गुणोंकी स्तुति करता है उनका चिन्तवन और मनन करता है—वह शीघ्र ही कर्मबन्धन को काटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और कर्मबन्ध के विनाश से पूर्णज्ञानी होता हुआ फिर कभी भी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता है ॥२३॥

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव त्वां यः समयनियमादादरेणस्तवीति ।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,
कल्याणानांभवतिविषयःपञ्चधा पञ्चितानाम् ॥२४

अतुलचतुष्टय रूप तुम्हे जो चितमें धारै ।
आदरसों तिहुकालमाँहि जग थुति विस्तारै ॥
सो सुकृती शिव पंथ भक्ति रचना कर पूरै ।
पंच कल्यानक ऋद्धि पाय निहचै दुख चूरै ॥२४॥

टीका—भो देव ! यः पुमान् त्वा भगवतं चित्ते कुर्वन् समयनियमात्-कालनियमात् आदरेणस्तवीति तोष्टवीति । समयस्यनियमस्तस्मात् । कथम्भूत त्वां ? निरवधिसुखज्ञान-दृग्वीर्यरूपं सुख च ज्ञान च दृग् च वीर्यं च सुखज्ञानदृग-वीर्याणि । निरवधीनि मर्यादारहितानि च सुखज्ञानदृवी-

---

अन्वयार्थ—(देव !) हे जिनेन्द्र ! (निरवधिसुखज्ञान-दृग्वीर्यरूपम्) अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्यस्वरूप (त्वाम्) आपको (चित्ते कुर्वन्) हृदय में धारण करता हुआ (यः) जो मनुष्य (समयनियमात्) संयम के नियम से अर्थात् त्रिकाल में (आदरेण) विनय-पूर्वक (स्तवीति) आपकी स्तुति करता है । (खलु) निश्चय

यानि च तैःकृत्यते लक्ष्यते इति निरतं खलु निश्चितं सुकृती पुमान् तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पंचधा पंचितानां कल्याणानां विषयो स्थानं भवति । पंचधा पंचिताः विस्तृताः तेषां पंचधापंचितानाम् ॥२४॥

भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद त्वत्कीर्तने न क्षमाः-
सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपि संयमभृतः के हन्त मन्दा वयम्।
अस्माभिःस्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते,
स्वात्माधीनसुखैषिणांसखलु नःकल्याणकल्पद्रुमः२५

से (सः) वह मनुष्य (तावता) उतने ही से-स्तवन करने मात्र से ही—(श्रेयो मार्ग) मोक्ष मार्ग को (पूरयित्वा) पूर्ण कर के (पंचधा पंचितानाम्) पंच प्रकार से विस्तृत (कल्याणानाम्) कल्याणकों का —गर्भ, जन्म, तप ज्ञान और निर्वाण रूप पंच कल्याणकों का —(विषयः भवति) पात्र होता है ।

भावार्थ— अनन्तचतुष्टयस्वरूप हे नाथ ! जो भव्य पुरुष आपका आदर पूर्वक भक्तिसे स्तवन करता है वह पुण्यात्मा पंच कल्याणकोंका पात्र होता हुआ मोक्ष मार्ग का नेता होता है । ॥२४॥

अहो जगत पति पूज्य अवधिज्ञानी मुनि हारे।
तुम गुण कीर्तनमाँहि कौन हम मन्द विचारे॥
थुति छलसों तुम विषै देव आदर विस्तारे।
शिव सुख पूरनहार कल्पतरु यही हमारे॥२५॥

टीका—भक्त्या प्रह्वो नम्रीभूतो यो महेन्द्रपूजितपदे चरणकमले यस्य स तस्यामंत्रणे हे भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद! त्वत्कीर्तने-तव स्तवने संयमभृतो गणधरादयो ऽपि क्षमा न समर्था न। कथम्भूताः संयमभृतः? सूक्ष्मज्ञान दृशः, सूक्ष्मज्ञानमेव दृक् येषां ते। एवंविधमन्दाः मदमेधसः। तु पुनः अस्माभिः स्तवनच्छलेन स्तोत्रमिषेणव त्वयि विषये आदरः तन्यते विस्तार्यते, स्तवन-

---

अन्वयार्थ—(भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद!) भक्ति से नम्र हुए देवेन्द्र के द्वारा पूजित हैं चरण जिनके ऐसे हे जिनेन्द्र! जब कि (त्वत्कीर्तने) आपकी प्रशंसा करने में (सूक्ष्मज्ञानदृशः) सूक्ष्मज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले (संयमभृतः अपि) तपस्वी भी-अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानादि के धारक संयमी योगीश्वर भी-(न क्षमाः) समर्थ नहीं हैं तब (हन्त) खेद है कि (वयंमन्दाः के) हम जैसे मन्दबुद्धि पुरुष आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? तथापि (स्तवनच्छलेन) स्तवन के छल से-(अस्माभिः) हमारे द्वारा (तु) तो सिर्फ-(त्वयि)

स्य छलं स्तवनछलं तेन। कीदृशः आदरः परः उत्कृष्टः खलु निश्चितं स कल्याणकल्पद्रुमः न. अस्माकं अस्तु। कीदृशानामस्माकं? स्वात्माधीनसुखैषिणा, स्वस्स्य आत्मा स्वात्मा अथवा सुष्ठु च आत्मा च स्वात्मा तदधीन यत्सुख तदिच्छतीति तेषा, कल्याणाना कल्पद्रुमः कल्याणकल्पद्रुमः। ॥२५॥

आपके विषय में (**परः**) उत्कृष्ट (**आदरः**) आदर-प्रेम ही (**तन्यते**) विस्तृत किया जाता है। और (**खलु**) निश्चय से (**सः**) वह आदर ही (**स्वात्माधीनसुखैषिणां**) आत्म-सुख के इच्छुक (**नः**) हमलोगों के लिये (**कल्याणकल्पद्रुमः**) कल्याण करने वाला कल्पवृक्ष होवे।

भावार्थ—हे नाथ! आप जैसे परमयोगीन्द्र की, जब द्वादशांग का पाठी इन्द्र भक्तिपूर्वक स्तुति करता है और चारज्ञानके धारक गणधरादिक भी आपको अपनी स्तुति का विषय बनाते हैं, तथा अनेक ऋद्धियों के धारक क्षीणकाय मुनिपुंगव भी जब आपके गुणों की स्तुति करते हैं तो भी वह पूर्णतया आपकी स्तुति करने मे समर्थ नही हो पाते ऐसी अवस्था मे आचार्य वादिराज अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तब मुझ जैसा मन्दमति पुरुष आप जैसे अगम्य परमात्मा की स्तुति करने मे कैसे समर्थ हो सकता है? अस्तु आपके गुणों में जो अनुराग प्रकट किया है-भक्ति से इस स्तवनरूप पुष्पमाला को गूंथा है-सो उक्त गुणानुराग ही आत्महितैषी मोक्षके इच्छुक हम जैसे पुरुषों का कल्याण करने वाला हो, अथवा मेरी आत्मोन्नति में सहायक हो ॥२५॥

वादिराज मनु शाब्दिक लोको, वादिराज मनु तार्किक सिंहः।
वादिराज मनु काव्य कृतस्ते, वादिराज मनु भव्य सहाय ॥१॥

वादिराज मुनितैं अनु वैयाकरणी सारे।
वादिराज मुनितैं अनु तार्किक विद्यावारे॥
वादिराज मुनितैं अनु हैं काव्यन के ज्ञाता।
वादिराज मुनितैंअनु हैं भविजन के त्राता॥१॥

दोहा—मूल अर्थ बहुविधि कुसुम, भाषासूत्र मँझार।
भक्तिमाल 'भूधर' करी, करो कंठ सुखकार ॥२॥

टीका—शाब्दिकलोकस्त्व वादिराज अनुवादिराजान्न्यून इत्यर्थः। तर्केषु कुशलास्तार्किकास्तेषु सिंह। काव्यकृतः काव्यकारकास्त्वं वादिराजं अनु, ते काव्यकारका वादिराज कवे न्यून इत्यर्थः। भव्य सहाय तं वादिराज अनु वर्तते। भव्याना सहाय, सघातः वादिराजान्न्यून इत्यर्थः। वादिराज एव शाब्दिक नान्य.। वादि-राज एव तार्किक नान्यः, वादिराज एव काव्यकृत नान्यः। वादिराज एव भव्य सहाय नान्य इति तात्पर्यार्थ., अनुयोगे द्वितिया॥१॥

अर्थ लोकमें जितने शाब्दिक हैं-वैयाकरण हैं, जितने नैयायिक हैं, जितने कवि हैं और जितने भव्य सहायक हैं, वे सब वादिराज से नीचे हैं अर्थात् वादिराज के समान वैयाकरण नैयायिक और कवि नहीं हैं॥



शुद्धि पत्र

पृष्ठ—	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	(उद्भासमनः)	(उद्भासमानः)
६	१५	(नष्कास्यन्ते)	(निष्कास्यन्ते)
८	४	चित्तसय्यां	चित्तशय्यां
८	१६	स्किचित्रम्	तत्किंचित्रम्
१६	२	रत्नमूर्ति-	रत्नमूर्ति
१८	३	निरवधिरुजा	निरवधिरुजा
१८	११	"	"
२०	२	त्व—भवभवे	त्व मम भवभवे
२०	१५	(माम्)	(मम)
२१	१४	तत्रस्मात्कारणात्	तत्तस्मात्कारणात्
२२	५	जल्पन्	जल्पन्न
२३	८	जाप्यं	(जाप्यैः)
२३	१३	का सन्देह है !	क्या सन्देह है !
२३	१७	शास्त्रघात से	शस्त्रघात से
२४	५	मुक्तद्वारं	मुक्तिद्वार
२४	५	कपाटम्	कवाटम्
२५	४	योयोस्तौ एवं विधौ कपाटौ	सा एव कवाट
२५	८	(नो)	(नो चेत्)
२५	१०	परदृढमहा—	परिदृढमहा-
२५	११	मुहर	मुहरबन्द
२५	१२	मु मोत्वको द्वार	मोक्षके द्वारको
२८	६	यो न वाप्य	यो ऽनवाप्यः
२८	८	पुरुषोद्दाम	परुषोद्दाम
२८	१२	बद्भू	बधभू
२६	५	पुरुषाः	परुषाः
२६	६	खनिन्तारिण	खनित्राणि

२६	१३	पुरुषो-	परुषो-
३०	२	चाम्दताब्धे	चामृताब्धे
३०	५	किमयं	किमियं
३३	१६	निर्विकल्पतिमक	निर्मिकल्पात्मक
३६	१०	कुसुये.]	कुसुमैः]
३८	५	मिथ्यम्	मित्थम्
३६	२	विस्तरयति	विस्तारयति
३६	१६	ससारका संसार	संसार
४०	१३	क्योंकि	और
४०	१५	भवतारी	भवावतारी

नोटः–टूटी मात्रा तथा बिन्दु-बिसर्गादि की दूसरी साधारण अशुद्धियों को यहा देने की ज़रूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड जाती है।